समर्पण

पूज्य आचार्य एवं प्रिन्सिपल

श्रीयुत डा० हरिचन्द शास्त्री, डी. लिट्., आई. ई. एस.

के

कर-कमलों में

जिनके ही चरणों में

पाई अकिंचन ने

मौलिक आलोचना की

अरुण-अरुण रश्मियाँ।

—विनीत

धर्मेन्द्र।

प्रकाशक—
पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय।
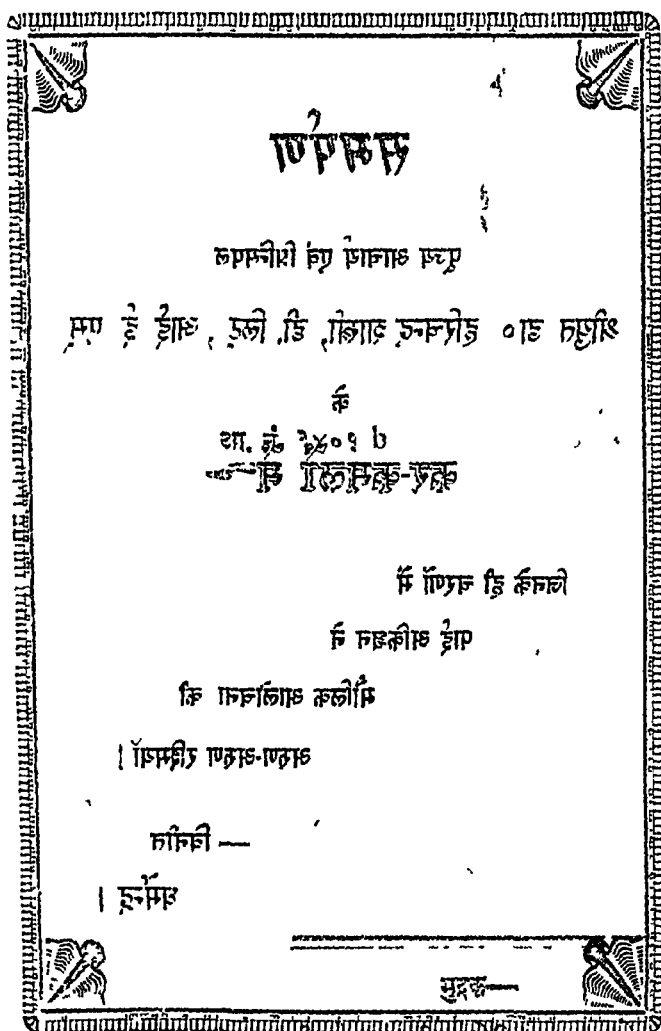
मुद्रक—
बा. कृ. शास्त्री; ज्योतिष प्रकाश प्रेस,
विश्वेश्वरगंज, काशी।

श्री डाक्टर हरिचंद शास्त्री, डी लिट्., आई. ई. एस.,
प्रिन्सिपल, पटना कालेज, पटना

भूमिका
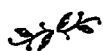
—राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह,
एम. ए.,
सूर्यपुरा (शाहाबाद)

हमारे भीतर जाने कितनी भावनाएँ—कितनी वासनाएँ हैं, कुछ ठिकाना है ! एक मिटती है, तो दूसरी उठती है—तरंग पर तरंग। एक पल चैन नहीं। आँख खुली और यह दौर चला। चलता रहा मरते दम तक !

मगर इन तमाम दिल की हिलोरों की भित्ति है हमारी खुदी। यही मैं-पन तो हमारे निखिल मनोवेगों का गोमुख है। इसी मैं-पन की वजह तो हमारा दायरा हो गया है इतना छोटा। कहाँ हम कितने में न रहते—आज रह रहे हैं बस इतने में !

हाँ, हमारे भीतर एक-आध प्रेरणाएँ ऐसी भी हैं, जो इस मैं-पन के दायरे से निकाल कर हमें असीम से जा मिलाती हैं—वैसी ही एक प्रेरणा है करुणा। जब वह ज्वार-सी उठती है, तो हम भूल जाते हैं

अपने को। हमारे भीतर पैठ जाता है कोई और, और वह हो जाता है मैं।

हमारी अनुभूतियों की तह से करुणा का उद्रेक एक विप्लवी प्लावन है—जाने कहाँ टक्कर ले! कोई हद है इसकी सम्भावनाओं की? अगर रस की ओर मुड़ा, तो गान बन गया—सत्व पर गया तो ज्ञान।

व्याधे के तीर से हंस का जोड़ा फूट फूट होता है। इस दर्दनाक नज़ारे पर एक दर्दमन्द का दिल हिल जाता है। उसकी व्यथाओं को मथ कर जो आह उठती है, वह उसी छन बन जाती है छन्द। यों करुणा के स्फुरण ने मानव-कंठ को भेंट दी ध्वनि की विभूति। जभी तो पंतजी ने भी कहा है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से निकला होगा गान!

पर, हम तो समझते हैं कि इस आह की तह से गान ही नहीं—ज्ञान भी फूटा होगा, इसी लिए—

दरदी होगा पहला ऋषि
दर्द से फूटा होगा ज्ञान!

आखिर दूसरों के दुख से दुखी होना क्या है, सबको अपनी तरह—अपने अन्दर—देखना—"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।" जो तमाम प्राणियों को अपनी आत्मा के अन्दर देख पाता है, उसे फिर कुछ और देखने को बाकी ही क्या रहा? यही न है ज्ञान की गरिमा! इसीके भीतर न आ गई मानवता की भावना—अहिंसा की स्थापना! बस, यों

करुणा जब व्यापक हो गई, तो आत्म-विकाश की कुंजी हो गई। हमारी हृत्तन्त्री पर जब विश्ववेदना का सुर उठता है, तो फिर हमारी तमाम सीमाएँ लगती हैं मिटने आप-से-आप—हमारी वेदना की तरंगें बन जातीहैं सुधा-बिन्दु खुद-बखुद।

"खंजर चले किसी पर तड़पते हैं 'अमीर'
सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है।"

जब तक यह दर्द भावावेश की व्यंजना है, वह गान है। जब व्यापक प्रत्यक्ष अनुभव, तब ज्ञान।

वह जो किसी ने कहा है न, कि दुनिया की तमाम शायरी तो दर्द-दिल की मींड है, कोई थोथी दलील नहीं—

"Our deepest songs are those
That tell of saddest thoughts."

काव्य की तो रसवाहिनी नस है करुणा—"एको रसः करुण एव।"

गुप्तजी हिन्दी के युगप्रवर्त्तक महाकवि हैं। उनकी लेखनी से निकली है करुणा की तीव्र धारा; जिधर गई, प्लावित करती गई।

एक ओर उर्मिला, उत्तरा और यशोधरा की मर्मभेदी अनुभूतियों पर गुप्तजी का हृदय हिलोरें लेता है, तो दूसरी ओर नहुष के पतन, पाण्डवों की विपन्न परिस्थिति, गुरुगोविन्द और वैरागी बन्दा के सन्ताप, सवाई जयसिह की माता की आँखों से झरते आँसू और दरिद्रता तथा अत्याचार के बोझ के नीचे पिसते हुए भारतीय किसानों की चीत्कार-ध्वनि ने उन्हे एँड़ी से चोटी तक थर्रा दिया है।

ब्रह्मचारीजी ने गुप्तजी की पावन कारुण्य-धारा में डूब कर एक-से-एक आबदार मोती निकाले हैं। ढंग के साथ माँज कर पिरोये भी हैं। सफाई देखते ही बनती है। भारती के सिंगार की चीजें होंगी ये !

दीपमालिका, १९४१

—राधिकारमण प्रसाद सिंह।
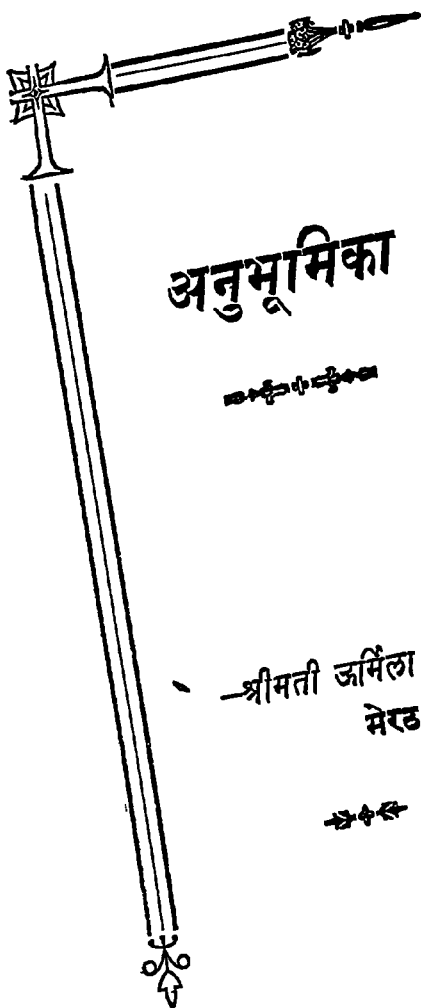
अनुभूमिका

—श्रीमती ऊर्मिला शास्त्री,
मेरठ।

हमारी प्राचीन परम्परा के अनुसार 'कारुण्य' काव्य का मूल है, जब वाल्मीकि ने क्रौञ्च-युगल में से एक को व्याध द्वारा मारे जाते हुए देखा, और उनका हृदय करुणा-रस से आप्लावित हुआ, उसी क्षण उनके हृदय में काव्य-धारा फूट पड़ी और इस प्रकार आदि-काव्य का प्रारम्भ हुआ। इसलिये गुप्तजी के काव्यों में कारुण्य-धारा की खोज काव्य की सर्वोत्कृष्ट कसौटी की खोज है। अतः एतद्विषयक प्रस्तुत मननात्मक रचना—अर्थात् "गुप्तजी के काव्य की कारुण्यधारा" के लिये हिन्दी साहित्य के प्रेमियों और अध्येताओं को श्री प्रोफेसर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, एम. ए. का अनुगृहीत होना चाहिये।

मुझे अपने बाल्य-काल में गुप्तजी की रचनाओं को पढने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और उनके द्वारा जीवन-स्फूर्ति मिली थी। गुप्तजी हमारे

आधुनिक काल के राष्ट्रीय कवि हैं। इसलिये इस बुढ़ापे में उनकी जेल-यात्रा को देख कर तो आज भी प्राचीन भारत की वह झलक हमारी आँखों के सामने आ जाती है, जब कविगण सेना के साथ युद्धभूमि में जाते थे, और योद्धाओं के अन्दर वीर-रस को प्रोत्साहित करते थे।

श्री प्रोफेसर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारीजी संस्कृत और हिन्दी साहित्य के उत्कृष्ट विद्वान तथा पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शन के पंडित हैं। हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में उनका पदार्पण हिन्दी के लिये सौभाग्य की बात है। उनका यह ग्रन्थ हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य में आदरणीय स्थान प्राप्त करेगा, इसमें संदेह नहीं।

पटना ह्वीलर वार्ड
पी. डब्ल्यु, मेडिकल कॉलेज
(हस्पताल)
२५-१०-४१

उर्मिला शास्त्री।

विषयः— पृष्ठ

पृष्ठ-भूमिका

—प्रो० धर्मेन्द्र,
पटना कालिज,
पटना।

गुप्तजी का व्यक्तित्व

*१

गुप्तजी के हृदय-क्षेत्र पर कवि-प्रतिभा का अंकुर आपके पिताजी की कृपा से ही उगा और उन्हीं के आशीर्वाद से वह पल्लवित होकर एक विशाल वृक्ष हुआ है। आपके पिताजी एक भगवत्प्रेमी पुरुष थे और उनका अधिकांश समय भगवद्भजन में ही व्यतीत होता था। वे कवि भी थे और भगवद्-विषयों पर ही कविता लिखा करते थे। बा० मैथिलीशरण गुप्त को उनके पिता ने उनके बचपन में ही लिखे एक छन्द को पढ़कर यह आशीर्वचन कहे थे—"तू आगे चलकर हमसे हजार गुनी अच्छी कविता करेगा।" पिताजी का यह आशीर्वाद अक्षरशः सत्य हुआ।

गुप्तजी के पिता का नाम सेठ रामचरण था। आप चिरगाँव (झाँसी) के एक धनी-मानी वैश्य थे और सीताराम के परम भक्त थे। कहते हैं—गुप्तजी पर आपका विशेष स्नेह था – कवित्व-प्रतिभा और रामभक्ति ये दोनों आपको पिताजी की देन हैं।

---

* यह जीवनवृत्त 'साधना' के परिचयांक (मार्च-अप्रेल १९४१) के श्री 'रसिकेन्दु' के लेख का उद्धरण है। कुछ अंश छोड़ दिये गए हैं।

गुप्तजी गहोई वैश्य हैं। आप पाँच भाई हैं, श्री महारायदासजी तथा श्री रामकिशोर गुप्त तो बड़े हैं और श्री सियारामशरण तथा चारुशीलाशरण छोटे हैं। इस प्रकार गुप्तजी अपने भाइयों में मँझले हैं। आपका जन्म सं० १९४३ वि० श्रावण शु० २ चन्द्रवार को रात्रि के समय २ बजे के करीब हुआ था।

गुप्तजी की तीन शादियाँ हुई हैं। पहली शादी आपकी ९ वर्ष की अवस्था में हुई। पर इस पत्नी का सं० १९६० में देहान्त हो जाने पर सं० १९६१ में आपकी दूसरी शादी हुई। सात आठ वर्ष के बाद इस पत्नी का भी देहान्त हो गया। घरवालों के आग्रह से स० १९७१ में आपने अपनी तीसरी शादी भी हो जाने दी। आपके, इन पत्नियों से कई बच्चे उत्पन्न हुए, सब छोटी उम्र में ही जाते रहे। एक लड़का, जिसका नाम सुदर्शन था, कुछ सयाना हो गया था, वह भी जलोदर रोग से चल बसा। इस प्रकार गुप्तजी का जीवन सन्तान की ओर से बहुत दुखी रहा है।

गुप्तजी की प्रारम्भिक शिक्षा चिरगाँव में ही हुई। दर्जा दो पास करने के उपरान्त अँगरेजी पढ़ाने के लिये मेकडानल हाईस्कूल झाँसी में दाखिल करा दिया गया। यहाँ आप दो साल तक रहे और पढ़ने-लिखने की अपेक्षा खेले-कूदे अधिक। अतः आपको घर बुला लिया गया। घर पर ही एक पण्डितजी से संस्कृत पढ़ने लगे। आप पढ़ने-लिखने में बड़े तेज थे, पाठ को चट याद कर डालते थे। परन्तु खिलाड़ी भी आप परले सिरे के थे। पण्डितजी के सामने जो पढ़ लिया सो पढ लिया, नहीं तो सारा समय खेल कूद में ही बीतता था। बड़े आदमी के लड़के थे, चकई फिराते तथा पतंगें उड़ाते थे। इनके अतिरिक्त आपको एक शौक और था, और वह था—

जोर-जोर से आल्हा पढ़ना। आपको कोई आल्हा की पुस्तक मिली कि आपने उसे जोर-जोर से पढ़ना आरम्भ किया। श्रोताओं में से किसी ने वाह! वाह! कह दिया, तो फिर आप और जोर-जोर से पढ़ने लगे। यह देखकर आपके बड़े भाई को चिन्ता हुई कि यह कहीं बिगड़ न जाय। इसी विचार से उन्होंने इन्हें मुंशी अजमेरीजी की संगति में डाल दिया। मुंशी अजमेरीजी से सभी परिचित हैं, वे हिन्दी के अच्छे कवि थे। मुसलमान होते हुए भी गुप्तजी के पिता अजमेरीजी को पुत्रवत् मानते थे और कहा करते थे कि आप मेरे छठे पुत्र हैं। मुंशी अजमेरीजी की संगति से गुप्तजी का सुधार हो गया। वे इन्हें कहानियाँ सुनाते और कविताएँ कण्ठस्थ कराते। मुंशीजी की कृपा से गुप्तजी का कवित्व-प्रतिभांकुर कुम्हलाने न पाया और आचार्य द्विवेदीजी के कृपा-सिंचन से तो वह पल्लवित हो उठा।

गुप्तजी को पद्यरचना का शौक १५-१६ वर्ष की अवस्था में, उस समय से लगा, जिस समय आपने घर पर संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। दोहे-छप्पय में विभिन्न विषयों पर कविताएँ बनाते और उन्हें कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले 'वैश्योपकारक' नामक पत्र में छपाते। उन दिनों आचार्य द्विवेदीजी झाँसी में रेलवे के दफ्तर में नौकर थे। गुप्तजी अपने बड़े भाई के साथ द्विवेदीजी से मिलने झाँसी आये। आपके बड़े भाई ने यह कहकर— "ये मेरे छोटे भाई भी कविता करते हैं" द्विवेदीजी से आपका परिचय कराया। उस समय की मुलाकात सिर्फ इतनी ही रही। पश्चात् आपने 'हेमन्त' शीर्षक कविता द्विवेदीजी के पास 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी। उस महीने की 'सरस्वती' में आपकी कविता न छपी। हताश आपने उसे कन्नौज से प्रकाशित होनेवाली 'मोहिनी' नामक पत्रिका में छपा डाला। कुछ समय

पश्चात् आपकी यही रचना 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। द्विवेदीजी ने जो काट-छाँट तथा संशोधन आपकी इस रचना में किये, उन्हें देखकर आप दंग रह गये। उन्ही दिनों द्विवेदीजी का आपको पत्र भी मिला, जिसमें लिखा था--"हमने जो संशोधन किये हैं उन पर विचार करो, आगे से जिस कविता को हम न छापें, उसे किसी दूसरे पत्र में न छपाओ।" द्विवेदीजी की इतनी ही सीख काम कर गई। अब जो कुछ लिखते 'सरस्वती' में ही छपाते। इस प्रकार द्विवेदीजी और आपमें गुरु-शिष्य का-सा सम्बन्ध स्थापित हो गया।

गुप्तजी की पहली पुस्तक जो प्रकाश में आई, वह 'रंग में भंग' है, जो करीब सं० १९०८ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का कथानक द्विवेदीजी के लिखे 'कल्पित दुर्ग' शीर्षक लेख से लिया गया था। यह खड़ी बोली की कविता की अपने ढंग की अनोखी पुस्तक थी। इसके पश्चात् जो आपकी पुस्तक प्रकाशित हुई, वह 'जयद्रथ-वध' है। यह सन् १९१० में प्रकाशित हुई। 'जयद्रथ वध' से आपकी कवित्व-प्रतिभा चमक उठी और आपकी ख्याति दिन दूनी रात चौगुनी फैलने लगी। आपकी कवित्वप्रतिभा पर मुग्ध होकर कुर्री सुदौली के अधिपति राजा रामपालसिंह ने मौलाना हाली के मुसद्दस के ढंग पर एक रचना हिन्दुओं के लिए लिखने के लिए आपसे अनुरोध किया। इसी अनुरोध के फलस्वरूप आपने 'भारत भारती' लिखी, जो सं० १९६९ में प्रकाशित हुई। 'भारत-भारती' से आपकी ख्याति देश के कोने-कोने में फैल गई।

इसके उपरान्त गुप्तजी ने अनेकों पुस्तकें लिखी हैं। आपकी लिखी हुई सबसे आखिरी पुस्तक 'नहुष' है जो पिछले साल प्रकाशित हुई है। यह आपकी ३३ वीं रचना है। 'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास' पौराणिक उपाख्यानों

पर लिखे हुए नाटक हैं और शेष रचनाएँ पद्यमय हैं। 'विरहिणी व्रजांगना' आदि पुस्तकों को, जिन्हें बँगला पुस्तकों का पद्यात्मक अनुवाद कह सकते हैं, आपने 'मधुप' नाम से प्रकाशित कराया है। 'साकेत' आपका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ-रत्न है और महाकाव्य है। इसका लिखना तो आपने आज से करीब ३० साल पूर्व ही 'उर्मिला' नामक खण्डकाव्य से कर दिया था, परन्तु पीछे से आपने इसको रामचर्चा में परिणत कर दिया और 'साकेत' नाम से प्रकाशित कराया। हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास के रामचरित-मानस के बाद रामगाथा के भक्ति-पूर्ण काव्यों में इसका दूसरा नम्बर है।

एक भगवद्भक्त होने के साथ ही साथ गुप्तजी देशभक्त भी हैं। आपकी देशभक्ति की झलक आपकी प्रायः सभी कृतियों में मिलती है। भगवद्भक्ति और देशभक्ति के संयोग से ही आप एक सफल और सर्वप्रिय कवि हो गये। 'भारत-भारती' तो आपका एक राष्ट्रीय काव्य है ही, इसके साथ ही अन्य दूसरे काव्यों में भी आपने अपने देश का राग गाया है।

सन् १९३६ में महात्मा गान्धी द्वारा आपको काशी में काव्य-मान ग्रन्थ भेंट किया गया था। उस अवसर पर आपने जो वक्तृता दी थी, उसमें आपने अपने देश-प्रेम का प्रकाश निम्नाङ्कित शब्दों में दिया थाः—

"नवीन भाषा के साथ ही पद्य-रचना के लिए भारतवर्ष ऐसा महान् विषय भी मुझे आरम्भ से ही प्राप्त हो गया था, वह भी एक संयोग से। व्यापार में लम्बा घाटा होने पर घर की बहुत सी चल और अचल सम्पत्ति भी चल दी थी। मेरे बाल हृदय ने जो घर देखा वही बाहर भी था। मेरे घर के वैभव को व्यापार ले बैठा था और बाहर सब कुछ विदेशी व्यापारी लिये बैठे थे। मैं अपना रोना रोकर देश के लिये रोनेवाला बन बैठा।"

गुप्तजी काव्य-रचना करते समय स्लेट पेंसिल लेकर बैठते हैं और कुछ गुनगुनाते जाते हैं। जब स्लेट भर जाती है तो उसे कागज पर उतार लेते हैं। कविता पूरी हो जाने पर पहले अपने स्वजनों को सुनाते हैं। मुंशी अजमेरीजी जब जीवित थे, तो आप पहले अपनी नयी रची हुई कविताओं को उन्हें सुनाते थे और वादविवाद करके कुछ संशोधन भी कर लेते थे। इसके पश्चात् साफ लिखने का काम भी मुंशीजी ही करते थे। मुंशीजी के बाद अब आपके इन कामों को आपके अनुज सियारामशरण और चारुशीलाशरण करते हैं। श्रीसियारामशरणजी से हमारे पाठक परिचित होंगे। आप भी बड़े अच्छे कवि और कहानी लेखक हैं। गुप्तजी कविता लिखते समय ऐसे तल्लीन हो जाते हैं कि कैसा भी शोरगुल क्यों न हो, आपको अपने काम में बाधा नहीं मालूम होती। जिन दिनों आप कुछ लिखते होते हैं तो दिन रात यही काम रहता है और जिन दिनों कुछ नहीं लिखते होते तो महीनों और सालों यों ही निकल जाते हैं। काका कालेलकर के एक बार पूछने पर आपने बतलाया था--

"कविता भी एक मादक चीज है। शुरू-शुरू में विनोद या कौतूहल की दृष्टि से कविता करने लगा। लेकिन उसने मुझे अपने अधीन कर लिया। हमारे पिताजी कुल-देवता को लक्ष्य करके कविता किया करते थे। मुझे भी उसके अनुसार स्तुति या गुणगान करने की इच्छा उत्पन्न हुई। वही इच्छा प्रेरणा बनी और उसकी परिणति आत्म-निवेदन से आत्म-समर्पण में हो गई।"

गुप्तजी की प्रथम रचना 'रंग में भंग' तो जरूर इण्डियन प्रेस से प्रकाशित हुई, किन्तु शेष सारी रचनाओं का प्रकाशन साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी) की ओर से हुआ है। इस प्रकार अपनी सारी रचनाओं के प्रका-

शक एक तरह से आप ही हैं यद्यपि प्रकाशन-सम्बन्धी सारा काम-काज आपके बड़े भाई श्रीरामकिशोर गुप्त के हाथ में रहता है। गुप्तजी को अपनी रचनाओं से काफी आय हुई है। आप सभी पुस्तकों के अनेक संस्करण निकाल चुके हैं। अकेले 'जयद्रथ-वध' के बीस और 'भारत-भारती' के तेरह संस्करण निकाल चुके हैं। दिनोंदिन अपनी पुस्तक की बढ़ती माँग को देख-कर आपने स० १९२० में अपने गाँव में छापाखाना खोल दिया, जो साहित्य प्रेस के नाम से प्रसिद्ध है। कहना न होगा कि अपनी लेखनी द्वारा गुप्तजी ने जितना पैसा कमाया है उतना आजकल के किसी दूसरे कवि ने नहीं कमाया।

गुप्तजी हिन्दी के तो आचार्य हैं ही इसके अतिरिक्त आप बँगला और संस्कृत के भी ज्ञाता हैं। अंग्रेजी का आपको ज्ञान नहीं है। फोटोग्राफी भी आप जानते हैं।

आपकी पोशाक बहुत साधारण है। धोती, कुरता और पगड़ी--और वह भी सब खादी की होती है। आप व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं में प्रायः स्वदेशी वस्तु ही व्यवहार में लाते हैं। आप स्वभाव से बहुत ही सीधे-सादे और विनम्र हैं। छल-कपट तो आपको छू तक नहीं गया है। जब आप किसी से बातें करते हैं तो ऐसे भोलेपन से, मानों आप कुछ जानते ही नहीं। देखने में आप देहाती किसान-से मालूम पड़ते हैं। आपको शहरी जीवन पसन्द नहीं है। आडम्बर से आप कोसों दूर हैं, खुशामद आपको पसन्द नहीं। हाकिम और हुक्कामों से प्रायः नहीं मिलते। हमारे एक मित्र ने, जो झाँसी में कुछ दिनों सर्विस में रहे, हमें बतलाया कि एक बार एक अफसर दौरे में चिरगाँव पहुंचे और उन्होंने चाहा कि गुप्तजी हमसे मिलने आवें,

परन्तु गुप्तजी न गये और आखिरकार उन अफसर महोदय को ही आपसे मिलने के लिये आपके मकान पर आना पड़ा।

घर पर गुप्तजी फर्श पर गद्दी बिछाकर बैठते हैं और आपके इधर उधर पुस्तकें पड़ी रहती हैं।

जिन दिनों आप किसी काव्य-रचना में निमग्न नहीं रहते हैं, उन दिनों आपका अधिक समय सूत कातने में व्यतीत होता है।

ऐसे भगवद्भक्त एवं देशभक्त कवि को पाकर हिन्दी का मस्तक ऊँचा हुआ है और हम हिन्दी-भाषी जितना भी उन पर गर्व करें, थोड़ा है।

गुप्तजी को जन्म देकर वह चिरगाँव, जो नाम के लिए ही चिरगाँव रहा, अब वास्तव में चिरगाँव हो गया। जब तक हिन्दी भाषा का अस्तित्व है तब तक गुप्तजी के साथ-साथ उसका भी नाम अमर रहेगा।

गत १७ अप्रैल से हमारा कवि जेल के सींकचों में नजरबन्द है।

खड़ी बोली के विकास में

गुप्तजी का

स्थान

२

कुछ लोगों का भ्रम है कि खड़ी हिन्दी का विकास व्रजभाषा के पश्चात् हुआ और खड़ी हिन्दी व्रजभाषा का उत्तरवर्त्ती रूप है। किन्तु यह धारणा नितान्त निर्मूल है क्योंकि खड़ी बोली आरंभ से ही व्रजभाषा की समकक्ष 'पछाँह' की बोली रही है[1]। यदि हिंदी के अपभ्रंशकालीन स्टेज का सिंहावलोकन किया जाय तो उसमें भी मिश्रित और धूमिल खड़ी बोली के प्रमाण मिलेंगे। इस स्टेज का आरंभ विक्रम की छठी-सातवीं शती से होता है क्योंकि उसी समय से हमें वज्रयानी बौद्ध सिद्धों के अपभ्रंश के 'दूहे' उपलब्ध होते हैं। इन 'दूहों' में कुछ ऐसे उद्धृत किये जा सकते हैं कि जिनमें खड़ी बोली की हल्की रूप रेखा झलकती है। उदाहरणतः—

ऊँचा ऊँचा पर्वत तँहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पीच्छ परहिन सबरी जिवत गुञ्जरी माली॥

— शबर पाद।[2]

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४८५।
२. देखिये—खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास—
व्रजरत्नदास पृ० ३४।

अपभ्रंश हिंदी के लेखकों में जैन आचार्यों का स्थान साहित्यिक दृष्टि से बौद्ध सिद्धों से भी महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने कतिपय बड़े २ ग्रंथ लोकभाषा में लिखे जिनमें हमें खड़ी बोली का अरुणोदय भी प्रतिफलित मिलता है। उदाहरणतः हेमचन्द्र ने अपने 'सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन' नामक व्याकरण-ग्रन्थ में जो अपने तथा अपने पूर्ववर्त्ती कवियों के उद्धरण उद्धृत किये हैं उनमें कुछ पद्य ऐसे हैं जिनकी भाषा में खड़ी बोली का पूर्व रूप स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

अपभ्रंश भाषा का साहित्य सृजन केवल बौद्धों और जैनों का ही एकाधिपत्य न था, क्योंकि जहाँ एक ओर कालिदास (५वीं-६ठीं शती) के 'विक्रमोर्वशीय' में अपभ्रंश के श्लोक मिलते हैं, वहाँ दूसरे छोर पर स्थित विद्यापति (१५ वी शती) की 'कीर्तिलता' अपभ्रंश की कीर्त्तिलता सीचती प्रगट होती है। इसके अतिरिक्त दण्डी, भामह, रुद्रट, राजशेखर आदि काव्य-शास्त्रियों की रचनाओं एवं शिलालेखों से यह प्रमाणित हो चुका है कि ईसा की नवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा न केवल 'लोकभाषा' का रूप ग्रहण कर चुकी थी[1] अपितु "सौराष्ट्र (सूरत) से मगध तक फैलचुकी थी।"[2] अत उसमें भी ऐसे प्रयोगों का मिलना स्वाभाविक ही है जिन्हें हम वर्तमान खडी बोली के अग्रदूत मान सकते हैं। निम्नांकित पद्य स्थालीपुलाकन्याय से उद्धृत किये जाते हैं:—

बहइ मलअ बाआ हंत कंपत काआ।
हणइ सवण रंधा कोइलालाब बंधा॥

---

१. अपभ्रंशदर्पण-जगन्नाथ राय शर्मा—पृ० १० ।
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका-हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० २६ ।

सुणिअ दइ दिहासुं भिंग झंकार भारा।
हणिअ, हणइ हंजे चंड चंडाल मारा॥[1]

——*——

संगर-सएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कंतु।[2]

——*——

जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ।[3]

——*——

बालो कुमारो स छमुंडधारी उप्पाउ हीणा हउं एक्क णारी।
अहं णिसं खाहि बिसं भिखारी गई भवित्ती किल का हमारी॥[4]

विक्रम की १४ वी शती तक के अपभ्रंश की चर्चा समाप्त करने के पहले शार्ङ्गधर (१३५७) का नामोल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उसने कुछ ऐसे वाक्य भी उद्धृत किये तथा रचे हैं "जिनमें खड़ी बोली के टुकड़े भी मिले हुए हैं,"[5] यथा—

(I) ओं गुरु के पाय शरणम्।

(II) नूनं बादल छाइ खेह पसरी नि.श्राणशब्दः खरः
शत्रुं पाडिलुटालि तोड़ि हविसौं एवं भणंत्युद्भटाः
झूठे गर्व भया मयालि सहसा रे कंत मेरे कहे
कंठे पाग निवेशयाहि शरणं श्रीमल्लदेवं प्रभुम्॥

(श्रीकंठ रचित)।

---

१. अपभ्रंश दर्पण—पृ० ३३।
२. ,, ,, ,, ४५।
३. ,, ,, ,, ५६।
४. ,, ,, ,, १३३।
५. खड़ी बोली हि. सा. का इतिहास-ब्रजरत्नदास पृ० ६३।

(iii) कीदृग्मत्तमतंगजः कमभिनत्पादेन नंदात्मज !

शब्दः कुत्र हि जायते युवतयः कस्मिन् सति व्याकुलाः।

विक्रेतुं दधि गोकुलात् प्रचलिता कृष्णेन मार्गे धृता

गोपी काचन तं किमाह करुणं दानी अनोखे भए॥

अपभ्रंश मिश्रित धूमिल कुहेसे से खींचकर हिन्दी को खालिस खड़ी बोली के धराखंड पर स्पष्टतः खड़ी करने का प्रधान श्रेय खुसरो को है। खुसरो का जन्म स. १३१२ वि० में हुआ था और मृत्यु सं. १३८१ में। वह न केवल सर्वांगीण कवि था, अपितु सार्वजनीन भी। वह फारस, तुर्की, अरबी, संस्कृत एवं हिन्दी सभी भाषाओं में दखल रखता था। हिन्दी में भी उसने व्रजभाषा और खड़ी बोली—दोनों को अपनाया है;—व्रजभाषा को सामान्य काव्य भाषा के रूप में, और खड़ी बोली को पहेलियों और मुकरियों के माध्यम के रूप में। मनोरंजन के साधन के लिये खड़ी बोली का प्रयोग यह संकेतित करता है कि सामान्य जनता में सामान्य बोल-चाल के लिये खड़ी बोली विशेष रूप से प्रथित और प्रचलित थी। एक दो उदाहरण अनपेक्ष्य न होंगे—

(i) आदि कटे सो सबको पाले।

मध्य कटे सो सबको घाले॥

अंत कटे सो सबको मीठा।

खुसरू वाको आँखो दीठा॥

उत्तर–'काजल'।

(ii) रोटी जली क्यों? घोड़ा अड़ा क्यों? पान सड़ा क्यों?

उत्तर–'फेरा न था'।

(iii) किसे पड़ी है जो जा सुनावे,

पियारे पी को हमारी बतियाँ।

—आदि।

क्रमशः हिन्दी साहित्य की उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि के साथ इसके पुनीत प्रांगण में भक्ति-भारती की चार प्रमुख धाराएँ प्रवाहित हुईं :—

१. कबीर आदि निर्गुणमार्गी संतों की ज्ञानप्रधान भक्तिधारा ;
२. जायसी आदि सूफी संतों की प्रेमप्रधान भक्तिधारा ;
३. तुलसी आदि सगुणमार्गी संतों की रामावत भक्तिधारा ;
४. सूर आदि सगुणमार्गी संतों की कृष्णावत भक्तिधारा।

इन सभी धाराओं में जिस विविध साहित्य की सृष्टि हुई, यदि उसकी सूक्ष्म छान बीन की जाय, तो पता चलेगा कि सर्वत्र थोड़ा या बहुत खड़ी बोली का पुट मिलता है। कबीर आदि निर्गुनिया संतों की 'सधुक्कड़ी' भाषा तो खास तौर से खड़ी बोली के ही खड़ाऊँ पर खड़ी है, उसीके पृष्ठाधार पर पल्लवित एवं फुल्लित है। उदाहरणतः—

कबीर से[1]—

पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार !
घर की चाकी कोई न पूजै, पीसि खाय संसार !!

अथवा—

ना मैं मंदिर ना मैं मस्जिद, ना काबा कैलास में।
मुझको क्यों तू ढूँढ़ै बन्दे, मैं तो तेरे पास में॥

१. अन्य निर्गुनिया संतों के उद्धरणों के लिये देखिये 'खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास'—ब्रजरत्नदास—पृ० ७५–८६।

यद्यपि जायसी, मंझन आदि प्रेममार्गी सूफी कवियों की भाषा मुख्यतः अवधी है, तथापि खड़ी बोली के वाक्यांश उनकी रचनाओं में भी प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। यथाः—

(i) जायसी (सं. १५९६) से :--

तिन्ह संतति उपराजा भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरुक दुवौ भए अपने अपने दीन ॥

(ii) उसमान (१६७०) की 'चित्रावली' से :--

तब लगि सहिये विरहदुख जब लगि आव सो बार।
दुक्ख गए तब सुक्ख है जानै सब संसार ॥

सगुणमार्गी तुलसी और सूर की अवधी और ब्रजभाषा की छानबीन की जाय तो उनमें भी खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रगट है। यथाः—

तुलसी सेः—

(i) जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई।
सोउ दयाल राखहु जनि जोई ॥
—रामायण (बालकांड)।

(ii) चला तुरंत महा अभिमानी।
नल की शाप आइ नियरानी ॥
—रामायण (बालकांड)।

(iii) सुरसरि पुनि शिव-जटा समानी।
एक वर्ष तहँ रही भुलानी ॥
—रामायण (बालकांड)।

सूर से:—

(i) भूलि रहे तुम कहाँ कन्हाई ।[1]

(ii) कहि राधा हरि कैसे हैं ।[2]

(iii) सुनिये व्रज की दशा गोसाईं ।[3]

रहीम, मीरा, गंग आदि अन्य प्रसिद्ध भक्त कवियों ने भी खड़ी बोली का मिश्रित या अमिश्रित प्रयोग किया है। यथा:—

मीरा से—

(i) मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।

रहीम से—

(ii) दृष्ट्वा तत्र विचित्रितां तरुलतां मैं था गया बाग में।
काचित्तत्र कुरंगशावनयना गुल तोड़ती थी खड़ी॥
उन्मदभ्रूधनुषा कटाक्षविशिखैः घायल किया था मुझे।
तत्सीदामि सदैव मोह-जलधौ है दिल गुजारा शुकर[4]॥

गंग से—

(iii) बैल कूं नाथ घोड़े कूं लगाम मतंग को अंकुस से कसिए।
गंग कहे सुन साह अकबर क्रूर सो दूर सदा बसिए॥

गंग और जटमल के नाम एक दूसरी दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि

---

१. प्रो० बेनीप्रसाद का संक्षिप्त सूर सागर पृष्ठ १६६।
२. ,, ,, पृष्ठ २०५।
३. ,, ,, पृष्ठ ४६३।
४. अन्य मुसलमान खड़ी बोली हिन्दी के कवियों की चर्चा के लिये देखिये व्रजरत्नदास-खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, पंचम तथा षष्ठ प्रकरण।

प्रथम की 'चंद छंद की कथा' में हमें खड़ी बोली गद्य के भी नमूने मिलते हैं। 'आम खास भरने लगा है', 'सरस्वती कूं नमस्कार करता हूँ' आदि इसके वाक्य नवयुग खड़ी हिन्दी गद्य के अग्रदूत समझे जाने चाहियें[१]।

भक्त कवियों के परवर्त्ती रीति रसिक कवियों की कविता मुख्यतः सूर-साहित्य से प्रभावित हुई, अतः स्वभावतः, उसने अपने आपको व्रजभाषा की वेशभूषा में व्यक्त किया। किन्तु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इस व्रजभाषा का शुद्ध और टकसाली रूप रीति ग्रन्थो में नही पाया जाता, क्यों कि अब तक वह साहित्यिक रूप ग्रहण कर चुकी थी, और यह भाषा-विज्ञान का सिद्धान्त है कि चाहे कोई भी भाषा हो वह अपने साहित्यिक रूप

---

१ गोरखनाथ के नाम से भी कुछ गद्य-ग्रथ मिलते हैं, और यदि उन्हें प्रामाणिक माना जाय तो उन्हें ही प्रथमतम गद्य के नमूने मानना पडेगा, किन्तु उनकी प्रामाणिकता में सदेह है। वे सभवत १४०० वि० के आस पास रचे गए थे। इनमें तथा इनके वाद की जो व्रजभाषा गद्य की रचनाएँ मिलती हैं, यथा —

(i) विट्ठलनाथ का शृंगारमडन।

(ii) चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता।

(iii) दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता।

(iv) नाभादास का अष्टयाम (स० १६६०)।

(v) वैकुठमणि शुक्ल का अगहनमाहात्म्य और वैशाखमाहात्म्य।

(vi) नासिकेतोपाख्यान (लेखक अज्ञात)।

(vii) सूरतिमिश्र की बैताल-पचीसी (१७६७ वि०)।

(viii) हीरालाल की आईन अकबरी की भाषा वचनिका (१८५८ वि०)।

—उनमें भी खड़ी बोली के क्रियापद तो व्यवहृत हुए हैं, किन्तु यत्र तत्र, सर्वत्र नही। (उदाहरणों के लिये देखिये रामचन्द्र शुक्ल–हि० सा० इतिहास पृ० ४७८–८३)।

में बहुत कुछ कृत्रिम सौन्दर्य का घूंघट डाल ही लेती है एवं विविध प्रभावों से प्रभावित होती चलती है। 'दास' ने अपने 'काव्य निर्णय' में काव्य भाषा को एक खिचड़ी भाषा माना है जिस में—

ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हूँ मिलै षट बिधि कहत बखानि॥

इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी बताया है कि काव्यगत ब्रजभाषा ब्रज-भाषा मात्र नहीं है, ब्रजमंडल के अतिरिक्त अन्यत्र बोली जानेवाली भाषाएँ भी इसमें आ मिलती हैं। अतः भिन्न भिन्न कवियों की कविताएँ पढ़ने से ही ब्रजभाषा के सामूहिक रूप का पता लग सकता है—

ब्रजभाषा हेत ब्रजवास हीन अनुमानै।
ऐसे कविन की बानी हूँ सो जानिए॥

सारांश यह कि रीतिग्रन्थों की ब्रजभाषा एक मिश्रित भाषा है जिस पर अंशतः खड़ी बोली का भी प्रभाव पड़ा है। बिहारी, भूषण, मतिराम, पद्माकर, ग्वाल--प्रायः सबों की भाषा में खड़ी बोली की-सी वाक्ययोजनाएँ मिलेंगी। एकाध उदाहरण पर्याप्त होंगे—

बिहारी से:—

जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में अपत कटीली डार॥

देव से:—

संपति में काँय काँय बिपति में भाँय भाँय।
काँय काँय भाँय भाँय देखी सब दुनियाँ॥

---

१ देखिये—ब्रजरत्नदास—खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० १३२।

भूषण से:—

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहन वारी।
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं॥
कंद मूल भोग करैं कंद मूल भोग करैं।
तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं॥

मतिराम से:—

मेरी मति में राम हैं कवि मेरे मतिराम।
चित मेरो आराम में चित मेरे आराम॥

यद्यपि इन उदाहरणों में खड़ी बोली की टुकड़ियाँ मिलती हैं तथापि उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वे सामूहिक रूप से ब्रजभाषा के दामन में दबकी हुई हैं।

कालक्रम से खड़ी बोली गद्य का भी विकास होने लगा। गद्य साहित्य चला तो आता था बहुत दिनों से; और इक्के दुक्के लेखक भी रंग-मंच पर प्रगट हो जाते थे,—यथा रामप्रसाद निरंजनी (सं० १७८९), दौलतराम (सं० १८१८) आदि—जिन की भाषा में खड़ी बोली अपने मिश्रित या अमिश्रित रूप में स्पष्टतया लक्षित होती है,[1]—तथापि तत्त्वतः खड़ी बोली गद्य की गाड़ी को नवयुग की 'डगरिया' पर डगराने का प्रमुख श्रेय हासिल है विक्रम की उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में उदित होने वाले उस आचार्य-चतुष्टय को, जिसकी नामावली नवयुग खड़ी बोली साहित्य के मुखपृष्ठ पर स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी.—

---

१. इनके संक्षिप्त परिचय के लिये देखिये-रामचन्द्र शुक्ल-हि० सा० का इतिहास पृ० ४८७-८८ और ब्रजरत्नदास-खड़ी बोली हि० सा० का इतिहास पृ० १७३-७४।

आचार्य	—	प्रमुख रचना
१. लल्लू लाल	—	प्रेमसागर
२. सदल मिश्र	—	नासिकेतोपाख्यान
३. सदासुख लाल	—	सुखसागर
४. इंशा अल्ला खाँ	—	रानी केतकी की कहानी।

खड़ी बोली गद्य के लिये मैदान भी खाली मिला, क्यों कि अब तक ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य विकसित नहीं हो पाया था। अतः भगवान का यह भी एक अनुग्रह समझना चाहिये कि यह भाषा-विछन्न नहीं संघटित हुआ, और खड़ी बोली, जो कभी अलग और कभी ब्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी, धीरे धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नए मैदान में दौड़ पड़ी।[1]

इस प्रसंग में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि जिन कारणो से खड़ी हिन्दी गद्य और बोल चाल को प्रोत्साहन मिले उनका संक्षिप्त उल्लेख किया जाय। वे ये हैं —

१. मोगल साम्राज्य का पतन।

२. ब्रिटिश साम्राज्य का उत्थान।

(क) कचहरी की भाषा की समस्या।

(ख) स्कूलों की भाषा की समस्या।

३. ईसाइयत का प्रचार।

४. छापाखाने का प्रवेश।

५. सं० १९१४ का राजनीतिक विप्लव।

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—हि० सा० का इतिहास (नूतन संस्करण) पृ० ४८२।

(१) यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से मोगल राज्य का सूर्यास्तकाल महान विप्लव और संघर्ष की रक्तिमा से रञ्जित है, क्योंकि उस समय सारे भारत में एक त्रैकोण युद्ध (Triangular Fight) चल रहा था, जिस में हिन्दू (विशेषतः जाट और मरहठे), मुसलमान (मोगलसाम्राज्य के टिमटिमाते हुए अस्तोन्मुख सितारे) और फिरंगी (अंगरेज और फ्रेन्च) एक दूसरे से लोहा आजमा रहे थे, फिर भी भाषा की दृष्टि से यह सूर्यास्त काल अरुणोदय साबित हुआ। ज्यों ज्यों दिल्ली आगरे आदि शहरों की महत्ता घटती गई, त्यों त्यों पछाँहीं अगरवाले खत्री आदि अपने व्यापार के लिये 'नई हरियाली' की खोज में लखनऊ बनारस पटने आदि पूरबी प्रदेशों में आ आकर बसने लगे। इन व्यापारियों के साथ इनकी खड़ी बोली भी लगी चलती थी, अतः इसका भी प्रचार होने लगा; और धीरे धीरे इसके राष्ट्रभाषात्व का धूमिल रूप निखरने लगा। तात्पर्य यह कि मोगल साम्राज्य की अवनति खड़ी हिन्दी की उन्नति का साधन सिद्ध हुई। उसकी चिता के भस्म से खड़ी हिन्दी के कलेवर में भभूत लगी और वह साहित्य के विविध क्षेत्रों मे विचरती हुई अलख जगाने लगी।

(२) इसके अतिरिक्त, अंगरेजों का पैर जब भारत में जम गया तो उन्हें भी अपनी राज्यव्यवस्था के संचालन के लिये यहाँ की भाषा सीखना अनिवार्य हो गया। अत' लार्ड वेलेज्ली (Lord Wellesley) ने इन्डियन सिविल सर्विस (Indian Civil Service) के अंगरेज परीक्षार्थियों के लिये "भारतीय जनता के इतिहास, भाषाओं, रीति तथा रिवाजों का ज्ञान" की उपादेयता बताई। साथही साथ वेलेज्ली ने स० १८५७ में फोर्ट विलियम कालेज (Fort William College) भी स्थापित किया और उसके अध्यक्ष जौन

गिलक्राइस्ट (John Gilchrist) ने सं० १८६० में उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी की गद्य-पुस्तकें तैयार कराने के लिये लल्लूलाल और सदल मिश्र को नियुक्त किया।

कचहरी की भाषा की समस्या भी राज्यव्यवस्था की समस्या का अंग बन कर खड़ी हुई। अंगरेजों के पहले कचहरी की भाषा मुख्यतः फारसी थी, अतः स्वभावत· वही उन्हें बपौती में मिली। किन्तु फारसी, जनता के रोजमर्रा व्यवहार की कचहरिया भाषा कब तक रह सकती थी, खास कर ऐसी दशा में जब हमारे नए शासकों की दृष्टि में भी फारसी का कोई महत्व नही था। अतः स० १८९४ में भारत सरकार ने फारसी के स्थान में प्रांतिक बोलियाँ जारी करने की आज्ञा जारी कर दी। खड़ी बोली को संयुक्त प्रान्त और बिहार की प्रांतिक बोली मान कर इसे हिन्दी या हिन्दुस्तानी नाम दिया गया। लेकिन इस पर फारसी-अरबी की इतनी गहरी छाप पड़ी थी कि वह अब तक नही मिट सकी है।

शिक्षित एवं सभ्य ब्रिटिश शासकों को भारतीयों की शिक्षा की ओर भी ध्यान देना अनिवार्य हो गया, यदि इस लिये नहीं कि मानवता के नाते भारतीयो को शिक्षित बनाना अंगरेजों ने अपना कर्त्तव्य समझा, तो कम से कम इसलिये कि बिना कुछ शिक्षित कर्मचारियो का दल तैयार किये शासकों और शासितों के बीच किसी प्रकार की व्यवस्था चल ही नहीं सकती थी। अतः स० १८७० में भारतीयों की शिक्षा के लिये एक लाख रुपए स्वीकृत हुए और भारतीय ढंग के संस्कृत के कालिजों का सूत्रपात हुआ। किन्तु संस्कृत कालिजों से शासकों को उपयुक्त मानव सामग्री नही मिल सकती थी; अतः स० १८९० में लार्ड मेकाले (Lord Macaulay) ने शिक्षाप्रणाली की

एक बिलकुल नई गतिविधि प्रस्तुत की। उन्होंने अंगरेजी भाषा को सामान्य रूप से शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में रिपोर्ट दी। आज भी हमारी शिक्षाप्रणाली की गाड़ी लार्ड मेकाले की बिठाई हुई पटरी पर बड़ी तेजी से दौड़ रही है। किन्तु चिन्ताशील भारतीयों के हृदय में इसके विरुद्ध बहुत उग्र भावना काम करने लग गई है, क्योंकि जो व्यंग्य भारतेन्दु ने आज से पचासों वर्ष पहले लिखा था—

एक बुलावै, तेरह धावै
निज निज विपदा रोय सुनावैं
आँखें फूटीं भरा न पेट
क्यों सखि साजन? नहिं, ग्रेजुएट।

—वह आज भी नग्न एवं नग्नतर रूप में उपयुक्त प्रतीत होता है। एक ओर तो नब्वे फी सदी से अधिक अज्ञान के गहरे गर्त में निमज्जित जन-समूह, और दूसरी ओर दस दस रुपए की नौकरी की मृगतृष्णा के पीछे बेतहाश दौड़ने वाले ग्रेजुएट-कुरंग! वस्तुतः यह स्थिति अतीव शोचनीय है। किन्तु जो भी हो, इस ऊढक शिक्षाप्रणाली ने भी खड़ी हिन्दी को लाभ ही पहुँचाया है, क्योंकि पहले वह वर्नाक्युलर के रूप में पढ़ाई जाती थी, और अब तो कई विश्वविद्यालयों और अनेकानेक महाविद्यालयों में प्रधान विषय (Principal subject) के रूप में पढ़ाई जाती है। इस सिलसिले में अनेकानेक उच्चकोटि के साहित्यों से खड़ी हिन्दी की झोली भरी गई है।

(३) यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि विजयी राष्ट्र पराजित राष्ट्र पर आक्रमण करने के लिये एक हाथ में तलवार रखता है तो दूसरे हाथ में धर्म प्रचार के मरहम की डिबिया भी। एक हाथ से उसके अंग का भंग करता

है, तो दूसरे हाथ से घायल हृदय पर मरहम का लेप भी। फलतः यदि एक ओर हमारे शासकों ने अपनी सुव्यवस्था के बन्धन में हमें भौतिक रूप से जकड़ने का इन्तजाम किया, तो दूसरी ओर ईसाई पादरियों ने ईसाइयत के प्रचार द्वारा हमारे आध्यात्मिक पालतूपन के लिये भी पिंजड़े तैयार किये। विलियम कैरे (William Carey) ने-जिसने श्रीरामपुर में मिशन तैयार कर धर्म प्रचार आरंभ किया-सत्ताइस भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया अथवा कराया। सं० १८६५ तक हिन्दी का अनुवाद भी छप चुका था। अनेक दृष्टियों से हमारी खड़ी हिन्दी भारत में यत्र तत्र सर्वत्र फैले हुए ईसाई मिशनरियों की ऋणी है। उनमें एक प्रधान दृष्टि यह भी है कि इन्होंने 'हिन्दी' के नाम से विशुद्ध खड़ी हिन्दी का प्रचार किया है न कि-उर्दू-हिन्दी-मिश्रित हिन्दुस्तानी का। दूसरी यह कि अपने धर्म-ग्रन्थों के सिलसिले में इन्होने रामायण आदि हमारे निजी धर्मग्रन्थों तथा व्याकरण-एवं अन्य पाठ्य पुस्तकों को भी मुद्रित तथा प्रकाशित किया और कराया है।

(४) खड़ी हिन्दी के प्रचार में छापाखाने ने जो भाग लिया है उसकी अत्युक्ति हो ही नही सकती। छापाखाने के प्रवेश और प्रचार का आदिम श्रेय-हमारे विदेशी शासकों एवं मिशनरियों को है। अब तो भूर्जपत्रों और ताल-पत्रों के युग को हम भूल चुके हैं और नगर नगर में पुस्तकों और पत्रों के प्रकाशन का आयोजन हो चुका है।

(५) सन् सन्तावन के गदर ने भी अऋजु रूप से खड़ी हिन्दी के कायाकल्प में योग दिया। तत्त्वतः देखा जाय तो जिस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से भारत के आधुनिक इतिहास में सिपाही-विद्रोह (गदर) के बाद की ईस्ट-इन्डिया कम्पनी के राज्य का-अन्त-करनेवाली घोषणा एक महान क्रान्ति की

परिचायक है, उसी प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नवयुग-प्रवर्त्तक साहित्य सन् सन्तावन की राजनीतिक क्रान्ति का साहित्यिक संस्करण है। भाव, भाषा और शैली-तीनों दिशाओं में हिन्दी ने अपना पुराना कंचुक फेंक कर नया कंचुक धारण किया। लल्लूलाल आदि के समय में जो खड़ी हिन्दी खड़ी होती हुई भी लड़खड़ा ही रही थी वह अकड़ कर खड़ी हो गई।

किन्तु इसी समय उसे एक विचित्र उलझन का सामना करना पड़ा। उसके हिमायतियों के दो दल हो गए। एक तरफ भारतेन्दु ने खड़ी हिन्दी को अपने नैसर्गिक और विशुद्ध रूप में देखना चाहा, तो दूसरी ओर राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने 'आम फ़हम' और 'ख़ास पसन्द' भाषा की ताईद करते हुए उसके मिश्रित रूप का पृष्ठपोषण किया। किन्तु "राजा शिवप्रसाद 'आम फ़हम' और 'ख़ास पसन्द' भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिन्दी अपना रूप आप स्थिर कर चली"[१]। परवर्ती विकास का जो भी स्वरूप निखरा, इतना तो हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारतेन्दु और सितारे-हिन्द दोनों ने हिन्दी की अमूल्य सेवाएँ कीं। मोगल शासन के समय से चलती आई हुई मनोवृत्ति का कुछ ऐसा दूषित प्रभाव पड़ा था कि हिन्दी को 'गवाँरू' और 'भाखा' कह कर निरस्कृत किया जाता था, और पढ़े लिखे हिन्दू भी तर्जदार उर्दू बोलने में ही शिष्टता की निशानी समझते थे। सितारे-हिन्द ने, जिनका सरकार के यहाँ भी बहुत मान था, और जो स्वयं शिक्षा विभाग के उच्च कर्मचारी थे, इस मनोवृत्ति के निराकरण में बहुत हाथ बँटाया। अतः भारतेन्दु पर न्याय करते हुए भी सितारे हिन्द पर अन्याय करना अन्याय्य होगा। इस युग की चर्चा करते समय तीन और साहित्य-सेवियों का

---

१ रामचन्द्र शुक्ल—हि० सा०-इतिहास—पृ० ५३२।

उल्लेख अनिवार्य हो जाता है। वे हैं—राजा लक्ष्मणसिंह, स्वामी दयानन्द और श्रद्धाराम फुल्लौरी। इन तीनों ने भी अपने अपने पृथक् क्षेत्रों में भारतेन्दुनिर्दिष्ट सरणि का ही अनुसरण किया।

भारतेन्दु के जीवनकाल में तथा उनके कुछ ही बाद उनकी साहित्यिक रचनाओं से प्रेरित होकर तथा सिपाही विद्रोह के पश्चात् उदय लेनेवाली राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना के फलस्वरूप, एक खासा मंडल तैयार हो गया, जिनमें निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—बदरीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, तोताराम, जगमोहन सिंह, श्री निवासदास, बालकृष्ण भट्ट, केशवराम भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, देवकीनंदन खत्री, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि। ये उपरिलिखित व्यक्ति मुख्यतः गद्य के क्षेत्र में आगे बढ़े। किंतु पद्य के क्षेत्र को सुशोभित करनेवालों में निम्नलिखित नाम विशेषतः उद्धरणीय हैं—श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, गिरिधर शर्मा, लोचनप्रसाद पांडेय आदि। उपर्युक्त स्थालीपुलाकी सूची में महावीरप्रसाद द्विवेदी का स्थान अद्वितीय है। यद्यपि स्वयं उन्होंने हिन्दी भारती को कोई अमूल्य भेंट नहीं दी, तथापि उनकी 'सरस्वती' कवियों और लेखकों के पनपने की मानों उर्वर-भूमि अथवा रक्षणशाला (nursery) सिद्ध हुई। मैथिलीशरण गुप्त का भी काव्य-कल्पतरु मुख्यतः इसी रक्षणशाला की देन है। द्विवेदी-मंडल के बाहर भी हिन्दी साहित्य-सेवकों की कमी न थी। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सत्यनारायण पांडेय, लाला भगवान दीन, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पांडेय आदि ने भी तत्कालीन काव्याकाश को आलोकित किया।

भारतेन्दु के समकालीन अथवा परवर्त्ती जिन कवियों के नाम ऊपर दिये गए हैं उनमें कमसे कम तीन ऐसे हैं जिन्होंने छायावाद की अनंत क्रान्तियों के साथ साहित्य-सुमन-स्थली में अवतीर्ण होने वाले नवयुग में भी अपने व्यक्तित्व को कायम रक्खा है। वे हैं-रामनरेश त्रिपाठी, हरिऔध, और मैथिलीशरण गुप्त। इन तीनों में भी रामनरेश त्रिपाठी और हरिऔध ने पद्य के अतिरिक्त गम्भीर आलोचना के गद्यक्षेत्र को भी सजा सँवारा है, और गुप्तजी ने इस क्षेत्र में कोई प्रयास नहीं किया। किन्तु कविता के क्षेत्र में प्रगतिशीलता की दृष्टि से गुप्तजी का स्थान सर्वोच्च है। नवयुग ने गुप्तजी की कविताओं को जितना गौरव दिया है, उतना अन्य को नहीं। उसने इस महान कविसे अनन्त प्रेरणाएँ ली हैं। संभवतः इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए शांति-प्रिय द्विवेदी ने लिखा था—'किसी माला में प्रथम मणि, उपवन में प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है वह वर्त्तमान कविता में गुप्तजी का है। अतएव खड़ी बोली की वर्त्तमान कविता के प्रधान और प्रथम प्रतिनिधि-कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ही हैं" [१]

---

१ हमारे साहित्य-निर्माता-पृ० ७८।

गुप्तजी की कला

में

उपयोगितावाद

३

अभिनव आलोचना-संसार में कला के लक्ष्य के संबन्ध में बहुत से विचारकों ने मीमांसा की है। गुप्तजी भी अतिरेक नहीं हैं। उन्होंने अपने काव्यों में जहाँतहाँ, और 'हिन्दू' की भूमिका में विशेषतः और विस्तृत रूप में, इस समस्या की समीक्षा की है। इस प्रसंग में उन्होंने जो विचार-विन्दु प्रस्तुत किये हैं वे संक्षेप में ये हैं—

(१) नवयुग छायावादी काव्य केवल 'सुन्दरम्' का उपासक है 'सत्यम्' और 'शिवम्' का नहीं। उसके पक्षपातियों का विचार है कि सौन्दर्य में अशोभन का अवकाश है ही नहीं,-सौन्दर्य स्वर्गीय है। किन्तु गुप्तजी को यह सिद्धान्त मान्य नहीं है, क्यों किः—

(क) सभी सौन्दर्य स्वर्गीय नहीं है; "क्यों कि यह भी तो परीक्षित हो जाना चाहिये कि कहीं फूलों में तक्षक नाग तो नहीं छिपा बैठा है। अनन्त सौन्दर्य के आधार श्रीराधाकृष्ण की सौन्दर्य-सुमन-राशि में भी जब हमारे प्रमाद से उसका प्रवेश संभव हो गया तब औरों की वात ही क्या ?"

---

(१) 'हिन्दू' — पृ० १२।

तात्पर्य यह कि सौन्दर्य के नाम पर भद्दी अश्लीलता को भी पासपोर्ट मिल जा सकता है, और मिला भी है। अतः 'सुन्दरं' को 'शिवं' अर्थात् जनमंगलाधायक होना आवश्यक है।" यदि सौन्दर्य स्वयं एक बड़ा भारी गुण है तो गुण भी एक बड़ा भारी सौन्दर्य है"।[1]

(ख) सौन्दर्य का संवेदन सापेक्ष है। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' के अनुसार एक की भावना को जो वस्तु सुन्दर प्रतीत होती है, वह दूसरे को असुन्दर मालूम होगी।

(ग) केवल सौन्दर्य को स्वर्गीय बना देने से ही हमारे उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती जब तक सौन्दर्योपासकों में भी स्वर्गीयता का समावेश न हो ले। स्वर्गीय काव्य के रसिकों में भी तो स्वर्गीय भावुकता अथवा मार्मिकता होनी चाहिये,[2] किन्तु न तो ऐसा होगा और न वैसा होगा।

(घ) इसके अतिरिक्त संसार आखिर संसार ही है, और हमारे काव्य का आधार भी यही संसार है। "परन्तु जब तक यह संसार स्वर्ग नहीं हो जाता, तब तक हम सांसारिक ही रहेंगे"।[3] और जब तक हम सांसारिक रहेंगे तब तक केवल और निरे सौन्दर्य की उपासना संभव नहीं है। "पार्थिव प्राणियों को पार्थिव साधनों का ही सहारा लेना पड़ेगा"।[4] यही कारण है कि गुप्तजी ने—

छुरे काटते हैं जो नार
होते हैं बहुधा सविकार।

---

१. 'हिन्दू' — पृ० १८-१९।
२. ,, — पृ० १७।
३. ,, — पृ० २७।
४. ,, — पृ० ३३।

–जैसी पंक्तियाँ लिखना उचित समझा है; "वर्ना कवि 'स्वर्गलोक' में बधिर श्रवणों से किसी अनजान का नीरव गान अथवा मूक आह्वान सुना अनसुना कर चिल्ला उठता—

गूँज उठा तेरा अनजान
स्वप्न लोक में नीरव गान[1] !"

(ii) नवयुग कवि विश्वभावना के विमान के सहारे देश और जातीयता की सीमित भावभूमि से उठ कर विश्वजनीन एवं सार्वभौम काव्य के छायापथ में विचरण करना चाहता है। किन्तु गुप्तजी के विचार में संसार के 'सम्मिलित स्वर्ग' की यूटोपिया (Utopia) हम मर्त्यों की परिधि से बाहर की चीज है। वे अपने देश और जाति के संकीर्ण दृष्टिकोण को न छोड़ सकते हैं और न छोड़ना चाहते हैं। यदि कवि की "तुच्छ तुकबन्दी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जातिगंगा में ही एक डुबकी लगाकर 'हरगंगा' गा सके तो वह इतने से ही कृतकृत्य हो जायगा"[2]।

(iii) कला-के-लिये-कला वादियों का विचार है कि कविता का लक्ष्य उपदेश नहीं है, किन्तु गुप्तजी इस मत के विरुद्ध हैं। उनका विचार है कि *उपदेश देने के भी तरीके हैं। जिस प्रकार रोगी को पथ्य* देने के लिये उसे मधुर किंवा रुचिकर रूप में प्रस्तुत करना चाहिये, नहीं तो रोगी उसे छूएगा तक नहीं; उसी प्रकार उपदेश को भी मनोहर रूप में प्रस्तुत करने के लिये उसका कविता-शर्करावेष्टन आवश्यक है। इस प्रकार उपदेश के भी दो रूप हुए :–

---

१. हिन्दू पृ० ३५–३६।
२. ,, पृ० ३४।

सरस उपदेश

नीरस उपदेश ।

नीरस उपदेश भले ही आचारशास्त्र की विशेषता हो, किन्तु सरस उपदेश देने में तो कवि ही समर्थ है।

(IV) यदि मान भी लिया जाय कि साधारणतः उपदेश देना कविता का लक्ष्य नहीं है, तथापि भारत की जैसी दीन-हीन दशा है, जिस प्रकार वह अध.पतन के अन्धकूप में गिरा कराह रहा है, उस दशा और उस प्रकार को ध्यान में रखते हुए कवि को मसीहा बनना ही पड़ेगा। "उपदेश देना उसका काम नहीं; न सही; परन्तु आपत्तिकाल में मर्यादा का विचार नहीं रहता।"[1] कवि की उपदेश-प्रवणता एक 'इमरजेन्सी' (emergency) है। उसे हमें क्लैव्यं मास्म गमः का संदेश देना है।

भाषा का संदेश सुनो, हे
भारत! कभी हताश न हो![2]

(V) गुप्तजी कविता के क्षेत्र में सुधारवाद के समर्थक हैं। जिस प्रकार भारतेन्दु ने—

तजि ग्रामकविता सुकविजन की अमृत बानी सब लहै।

—जैसे सिद्धान्तवाक्य के द्वारा कविता के आंगन में वर्षों से एकत्रित कूड़ाकर्कट को झाड़ बुहार कर फेंक देने के लिये युगवाणी को आमन्त्रित किया था, उसी प्रकार गुप्तजी ने भी परम्परागत अतिश्रृङ्गारिक कविताओं के विरुद्ध क्रांति की बिगुल फूँकी है, वे कहते हैं:—

---

१ 'हिन्दू'—पृ० ३०।

२ स्वदेश-संगीत (भाषा का संदेश) पृ० ७३।

करते रहोगे पिष्टपेषण और कब तक कविवरो !
कच, कुच, कटाक्षों पर अहो ! अब तो न जीते जी मरो ![1]

पुनश्च :—

आनन्ददात्री शिक्षिका है सिद्ध कविता कामिनी
है जन्म से ही वह यहाँ श्रीराम की अनुगामिनी।
पर अब तुम्हारे हाथ से वह कामिनी ही रह गई
ज्योत्स्ना गई, देखो, अँधेरी यामिनी ही रह गई ॥[2]

तात्पर्य यह कि गुप्तजी काव्यकला में विशुद्धतावाद एवं उपयोगितावाद के पक्षपाती हैं।[3] न तो केवल आनन्द और न निरा शिक्षण, अपितु दोनों ही, कविता के उद्देश्य हैं।

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिये।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिये ॥[3]

वह आनन्ददात्री के साथ साथ 'शिक्षिका' भी है। उसे अपने हाथ में शिष्टभावना की थाल लेकर देवी भारती की ऐसी आरती उतारनी होगी जिसकी ज्वालामाला से अशिष्ट भावनाएँ भस्म हो जायँ।

सुन्दर को सजीव करती है भीषण को निर्जीव कला।

---

१. भारत-भारती (भविष्यत् खंड) पृ० १७० ।

२. भारत-भारती (भविष्यत् खंड) पृ० १७१ ।

३. तुलना कीजिये—"गुप्तजी किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही चलते हैं।... उपयोगितावाद गुप्तजी को गुरुप्रसाद के रूप में प्राप्त हुआ है।"—सत्येन्द्र—गुप्तजी की काल—पृ० ७३ ।

गुप्तजी के विचारों का संक्षिप्त निदर्शन करने के उपरान्त यह भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि तत्त्वतः कविता क्या है और उसका क्या उद्देश्य होना चाहिये। कविता की परिभाषा पंडितराज विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की है; अर्थात् शृंगारादि रसों से प्लावित वाक्य काव्य है, उसी प्रकार जगन्नाथ पंडित ने रमणीय अर्थों के प्रतिपादक शब्दों को कविता कहा है—"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"। पाश्चात्य आलोचकों में मेथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) ने इसे 'जीवन की समालोचना' (Criticism of life) कहा है और कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) ने इसे 'वेगवान मनोवेगों का यादृच्छिक अतिप्रवाह' (Spontaneous over-flow of powerful feelings) कह कर सूचित किया है। उपर्युक्त परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए एक परिभाषा यों गढ़ी जा सकती है—कविता सरस-सहज-मधुर एवं भावुकता-प्रधान पदों में मानव तथा मानवेतर जीवन की समालोचना है।

अब इस प्रसंग में यह प्रश्न उठता है कि जीवन के किन अंगों की और कैसी समालोचना कविता के क्षेत्र में वैध होगी। क्या मानव-जीवन के बीभत्स व्यापार भी कविता के अम्बर में बूटे बनाकर सजाए जायँगे? यदि हाँ, तो क्या अपने नग्न रूप में अथवा परिवर्त्तित रूप में?

आलोचकों का एक दल—जिसमें हम स्वप्नसिद्धान्तवाद, यथार्थवाद और कला-के-लिये-कलावाद के हिमायतियों को गिन सकते हैं—यह कहता

---

१. इन वादों की संक्षिप्त व्याख्या के लिये देखिये—श्यामसुन्दर दास साहित्या-लोचन (परिवर्धित संस्करण) पृ० ८–९।

है कि कविता एक ललित कला है और ललित कला 'मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है'[१]। सौन्दर्य में शोभन और अशोभन का भेदभाव कविता के लिये विषयान्तर है। वह अपनी सौन्दर्यानुभूति की तृष्णा शात करने चली है, न कि सदाचार की रेखा खींचने। वह आनन्दसागर में गोते लगाते समय छेड़-छाड़ नहीं चाहती। ड्राइडेन (Dryden) का मत है कि "कविता का यदि एकमात्र नहीं तो कम-से-कम प्रमुख ध्येय 'आनन्ददान है; शिक्षादान का ध्येय यदि अंगीकृत भी किया जाय तो केवल गौण रूप से।"[२] प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक ब्रैडले (A. C. Bradley) ने कविता-के-लिये-कविता (Poetry for poetry's sake) के गूढार्थ को विशद करते हुए लिखा है कि कविता-के-लिये-कविता-वाली उक्ति का आशय प्रथम तो यह है कि कविता किसी लक्ष्य का साधन नही है, स्वयं ही लक्ष्य है; दूसरे, कविता की परख स्वयं कविता ही है, अन्य बाहरी उद्देश्यों को ला घसीटना कविता के प्रति अन्याय है[३]। ब्रैडले के

---

१. श्यामसुन्दर दासः गद्य कुसुमावली—पृ० ७।

2. "Delight is the chief, if not the only end of poetry; instruction can be admitted but in the second place." (Quoted by Richards in "Principles of Literary Criticism"—Page 68.)

3. A. C. Bradley:—Oxford Lectures on Poetry—P. 5. What then does the formula "Poetry for poetry's sake" tell us about this experience? It says, as I understand it, three things. First, this experience is an end in

कथन का सूक्ष्मतर विश्लेषण करते हुए रिचार्ड्स ने 'काव्याय काव्यम्' वादी की भावना के निम्नलिखित चार विचार-बिन्दु प्रस्तुत किये हैंः—

(i) धर्म, जातीयता, उपदेश, कीर्ति, धन आदि सारी बातें कविता के लिये विषयान्तर हैं।

(ii) कविता के अच्छे बुरे होने का प्रमाण कविता स्वयं है।

(iii) धर्मादि उपरिलिखित लक्ष्यों को ध्यान में रखकर लिखी गई कविता उच्च कोटि की नहीं हो सकती।

(iv) कविता की अपनी निजी दुनियाँ है, स्वतंत्र, संपूर्ण, सर्वांगीण।

इन पर विचार करते हुए रिचार्ड्स (Richards) ने यह बतलाया है कि कविता में इस प्रकार स्वान्तः-सुखाय-वादिता न तो उचित है और न संभव। इसके अतिरिक्त इस बेतुकी दृष्टि से देखा जाय तो विश्व-साहित्य के बड़े-से-बड़े कवि भी अपना सिर ऊँचा नहीं रख सकेंगे। सोलोमन

---

itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value. Next, its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion; because it conveys instruction or softens the passions, or furthers a good cause; because it brings the poet fame, or money, or a quiet conscience. So much the better; let it be valued for these reasons too. But its ulterior worth neither is nor can directly determine its poetic worth as satisfying imaginative experience; and this is to be judged entirely from within.

(Solomon) के संगीत, बन्यन (Bunyan) का पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस (Pilgrim's Progress) और गेटे (Goethe) का फौस्टस (Faustus)- ये सभी किसी आध्यात्मिक लक्ष्य को रख कर लिखे गए हैं। उसी प्रकार रामायण, महाभारत, प्रबोधचंद्रोदय आदि अमर भारतीय रचनाओं में मानवता को संदेश देने की प्रबल लालसा व्यक्त है। क्या ये सारी की-सारी साहित्यिक विभूतियाँ अनायास ही मिट्टी में मिला दी जायँ !

अतः हमें उसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिये जिस पर होरेस (Horace) पहुँचा था। "कवियों का उद्देश्य या तो शिक्षा देना होता है या आनन्द देना या दोनों को मिला देना। अतः ठोस और उपयोगी को आनन्ददायक के साथ समन्वित कर दो।"[1]

ऊपर की पंक्तियों में विविध वादों के जिसे विवाद की ओर संकेत किया गया है उसके मूल में निहित है दृष्टि की एकांगिता। समालोचकों ने कविता को 'अन्धों का हाथी' मान रक्खा है। किन्तु यदि हम यह मान लें कि कविता किसी एक वाद की तंग गली से नहीं चला करती; वह विविध प्रकार की होती है और विविध प्रकार की कविता की परख के लिये विविध दृष्टिकोणों की आवश्यकता है, तो फिर यह व्यर्थ की वितंडा आपही शान्त हो जाती है।

---

1. Poets either wish to instruct or to delight or to combine the two. Join the solid and useful with the agreeable.—Horace.

Quoted by Richards in his Principles of Literary Criticism—P. 68.

सारांश यह कि कविता के लिये न केवल यथार्थवाद की उपादेयता है, बल्कि उपयोगितावाद की भी। निरे यथार्थवादी कवि कविता के दायरे को संकुचित कर देते हैं और यथार्थवाद के नाम पर होने वाले अनर्थवाद के लिये रास्ता खोल देते हैं। अतः गुप्तजी यदि काव्य के द्वारा राष्ट्र, जाति अथवा मानवता को सीख और संदेश देते हैं तो फिर भी वे कवि बने ही रहते हैं। सीख और संदेश देने के भी ढंग है, यदि कवि उपदेशक होता हुआ भी रोचक बना रहा तो उसकी कविता उच्च कोटि की समझी जायगी। हमारे भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने तो कविता के लक्ष्यों को गिनाते हुए उपदेशप्रदान को भी सम्मिलित किया है, किन्तु शर्त यह रक्खी है कि वह उपदेश सरस हो, वैसा ही, जैसा कि कान्ता का कमनीय कलालाप [1]। भावुकता और सरसता–ये ही कविता की जान हैं।

संभव है कि इस अन्तिम आधार पर हम गुप्तजी की कुछ कविताओं की त्रुटि का उद्घाटन कर सकें, और करें; किन्तु उसका उद्देश्य आलोचना-जगत को खाद्य देना होगा; न कि गुप्तजी के व्यक्तित्व पर आक्षेप। कवि ने स्वयं ही कहा है कि "यदि हम किसी निबंध की एक एक पंक्ति में रस की खोज करने लगेंगे तो वाक्यों की तो बात ही क्या महाकाव्यों को भी अपना स्थान छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़ेगा"[2]। हमें इस कथन से पूर्ण सहमति है। विश्लिष्ट रूप से यत्र तत्र त्रुटिसंगत होते हुए भी संश्लिष्ट रूप से काव्य-विशेष को उच्च कोटि का माना जा सकता है—इसमें सन्देह नहीं।

---

(१) मम्मटाचार्य —काव्यप्रकाश—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

(२) हिन्दू—पृ० ३७-३८।

गुप्तजी

की

काव्य-कला

श्यामसुन्दर दास ने काव्य के चार उपकरण गिनाए हैं—

१. सौंदर्य

२. रमणीय-अर्थ

३. अलंकार और रस

४. भाषा[1]।

उसी प्रकार अरस्तू (Aristotle) ने दुःखान्त नाटकों की चर्चा करते हुए काव्य के निम्नलिखित छः विभागों की समीक्षा की है:—

१. कथावस्तु (Plot)

२. चरित्र (Character)

३. रचनाशैली (Diction)

---

१. साहित्यलोचन पृ. ५२-५६।

४. भावविधान (Thought)

५. दृश्यविधान (Spectacle)

६. संगीत (Song)।[1]

ये दोनों विभाग हमारी सम्मति में अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति के शिकार हैं। उदाहरणतः प्रथम विभाग में 'रमणीय अर्थ' और 'सौन्दर्य' अलग-अलग माने गए हैं; किन्तु 'रमणीय' भी तो 'सुन्दर' का ही पर्यायवाची है; अतः सौन्दर्य के अन्दर उसका भी समावेश हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'सौन्दर्य' कुछ इतना व्यापक गुण है कि प्रायः सभी अन्य काव्यगुण इसकी छत्रच्छाया में छिप जा सकते हैं। अरस्तू के विभाजन-प्रकार में भी 'रचना-शैली' और 'संगीत' को अलग अलग मानना जँचता नहीं, क्योंकि संगीत शैली का ही एक अंग है। इन बातों को तथा आलोच्य कविविशेष की काव्य-कला की परख के विशिष्ट ध्येय को ध्यान में रखते हुए, हम निम्नलिखित बिन्दुओं में अपनी आलोचना प्रस्तुत करेंगे—

(१) कथा-वस्तु अथवा काव्य-वस्तु।

(२) भाव-विन्यास।

(३) भाषा-सौष्ठव।

(४) रचना-शैली।

(१) कथावस्तुः—इस प्रसंग में कथावस्तु का प्रयोग एक अर्थ-विशेष में किया गया है। साधारणतः कथावस्तु किसी काव्य-विशेष की ओर ही

---

1. The Poetics of Aristotle. Ed. S. H. Butcher (1929) p. 29.

संकेत करती है, यथाः-'साकेत' की कथावस्तु, 'यशोधरा' की कथावस्तु आदि। ऐसे स्थलों में कथावस्तु का मतलब किसी काव्य के आधारभूत कथानक अथवा प्लाट (Plot) से होता है जिसकी चर्चा जहाँ-तहाँ मुख्य-ग्रन्थ के पृष्ठों में की गई है। परन्तु जहाँ हमें गुप्तजी की सामूहिक रचनाओं पर दृष्टि दौड़ानी है, वहाँ यह विचारना होगा कि गुप्तजी के काव्यों के कथानक किन किन कोटियों में आते हैं, उनकी व्यापकता कैसी है, वे किन किन आकरों से उद्भूत हैं और किन किन दिशाओं में प्रेरित हुए हैं। सत्येन्द्र ने कवि की कृतियों की सामान्य समीक्षा करते हुए उनकी छः मुख्य दिशाओं का उल्लेख किया है:[1]--

(i) राष्ट्रीय

(ii) महाभारत संबन्धिनी

(iii) रामचरित-संबन्धिनी

(iv) बौद्धकालीन

(v) सिक्ख तथा अन्य ऐतिहासिक घटना संबन्धिनी

(vi) पौराणिक।

इन विभागों में कुछ परिवर्त्तन करते हुए एक तालिका प्रस्तुत की जाती है जिससे उनकी रचनाओं और उनके आधारभूत स्रोतों का श्रेणीगत परिचय मिल सके:--

---

१. सत्येन्द्रः--गुप्तजी की कला--पृष्ठ ६।

संख्या	स्रोत-श्रेणी	रचनाएँ
(१)	राष्ट्रीय, जातीय एवं सामाजिक	स्वदेशसंगीत, भारत-भारती, वैतालिक, किसान
(२)	रामचरितमूलक	साकेत, पञ्चवटी
(३)	कृष्णचरितमूलक	द्वापर
(४)	बौद्धसंस्कृतिमूलक	यशोधरा, अनघ
(५)	हिन्दू-संस्कृतिमूलक	हिन्दू, विकटभट, रंग में भंग, पत्रावली
(६)	सिक्खसंस्कृतिमूलक	गुरुकुल
(७)	पुराणमूलक	चन्द्रहास, शकुन्तला, तिलोत्तमा, शक्ति
(८)	महाभारतमूलक	जयद्रथवध, सैरंध्री, बकसंहार, वनवैभव, नहुष
(९)	विविध (संग्रहात्मक)	मंगलघट, झंकार

इस तालिका से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:—

(१) गुप्तजी के काव्यों का प्रतिपाद्यविषय बहुत व्यापक है।

(२) उन्हें जितनी अपने अतीत गौरव की उद्भावना की लालसा है उतनी वर्त्तमान राष्ट्र या समाज के जीवित चित्र अंकित करने की नहीं।

(३) संस्कृति की विस्तृत परिधि में उन्होंने बौद्ध, हिन्दू और सिक्ख

तीनों को सम्मिलित किया है। संकुचित सम्प्रदायवादिता से वे ऊपर उठे हुए हैं।

(२) भावविन्यासः—भावों के विन्यास के उत्कर्षापकर्ष पर विचार करने के लिये निम्नलिखित बिन्दुओं पर अपनी आलोचना केन्द्रित की जा सकती है—

१. रसों का परिपाक।

२. चरित्र-चित्रणः भावों की मनोवैज्ञानिकता।

३. भावस्थितियों की चित्रवत्ता (picturesque and graphic pescriptions of situation)।

४. कल्पना का उत्कर्ष।

१. रस-परिपाकः—पुस्तक के मुख्यांश में गुप्तजी की प्रत्येक रचना के सम्बन्ध में आलोचना की गई है; और यद्यपि हमारा प्रधान लक्ष्य कारुण्य-कलित स्थलों का उद्भावन करना रहा है तथापि प्रसंगागत अन्य रसों पर भी सरसरी दृष्टि डाली गई है। सामूहिक रूप से यहाँ यह कह देना है कि गुप्तजी की रचनाओं में प्रधानतः दो रसों का परिपाक हुआ है—करुण[१] और वीर। इनमें भी करुण का स्थान सर्व प्रथम है, वीर का द्वितीय। इस उक्ति के विशदीकरण के लिए प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठों का अनुशीलन अपेक्ष्य है। करुण और वीर के पश्चात् तृतीय स्थान शृंगार को दिया जा सकता है। 'पञ्चवटी' 'साकेत' तथा अन्य काव्यों में स्थल स्थल पर शृंगाररस के सुन्दर और सौम्य संनिवेश के उदाहरण मिलते हैं। यथा-'साकेत' के आरम्भिक सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला के वे प्रेमालाप, जिनके सौंदर्य पर मुग्ध होकर

---

१. 'करुण' शब्द का अर्थ व्यापक रूप में लिया गया है।

कवि कह उठता है: —

प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है
हार में जिसमें परस्पर जीत है ;

अथवा 'पंचवटी' की वह परिस्थिति जिसमें शूर्पणखा को केन्द्रीयबिन्दु बनाकर राम लक्ष्मण और सीता तीनों परस्पर शृंगार और हास्य के त्रैकोणिक उद्भावन में भाग लेते हैं। इनमें राम और सीता का शृंगार तो शुद्ध शृंगार की कोटि में परिगणित होगा, किन्तु सीता और लक्ष्मण का भाभी-देवर-वाला परस्पर हास्यविनोद संभवतः शृंगार और हास्य दोनों की सीमान्तरेखा पर अधिष्ठित समझा जायगा। यदि यह कहा जाय कि यह परिहास अमिश्रित हास्यरस का नमूना है, तो संभवतः ऐसा मानने में हिचक होगी। इसका कारण, हमारी सम्मति में, यह है कि शुद्ध हास्य को लिंगवैषम्य की अनिवार्य अपेक्षा नहीं होती ; यदि कोई परिस्थिति हास्यप्रद होगी, तो चाहे पुरुष पुरुष एक साथ हों, अथवा स्त्री-पुरुष एक साथ हों, वहाँ हास्य का उद्रेक होगा ही। किन्तु भाभी-देवर-वाले परिहास की परिहासता विभिन्नलिंगीय व्यक्तियों पर निर्भर करती है। अतः यह परिहास शुद्ध हास्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु साथ ही साथ इसे शुद्ध शृंगार भी तो नहीं कह सकते। यदि हम लक्ष्मण और सीता के परस्पर विनोद को शृंगारभावना से प्रेरित मानेंगे तो अपनी सहस्राब्दियों की सञ्चित सांस्कृतिक सम्पत्ति को खो देंगे। वस्तुतः रामचरित के लोकोत्तर आदर्शवाद के सादे परिधान पर भाभी-देवर की मीनाकारी करके गुप्तजी ने अपनी सौन्दर्यभावना को एक ऐसी द्विकोटिक राह से चलने को प्रेरित किया है जिसमें लोगों को अँगुली उठाने का मौका मिले। इसी दृष्टि से प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने 'पंचवटी' की आलोचना करते हुए

लिखा है कि "भाभी-देवर-सम्बन्ध मैथिलीशरण गुप्त की काव्यगत दुर्वलताओं में से है।"[1]

गुप्तजी के श्रृंगारचित्रण के सम्बन्ध में उनकी विशुद्धतावादिता को भी ध्यान से ओझल नहीं करना चाहिए। जब पहले पहल गुप्तजी ने लेखनी उठाई तो 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' के समान निरे श्रृंगारवादी कवियों की काफी छीछालेदर की। उनको यह देख कर महती ग्लानि हुई कि—

उद्देश कविता का प्रमुख श्रृंगार रस ही हो गया
उन्मत्त होकर मन हमारा अब उसी में खो गया।
कवि-कर्म कामुकता बढ़ाना रह गया देखो जहाँ
वह वीररस भी स्मर-समर में हो गया परिणत यहाँ॥"[2]

श्रृंगारपरक 'लिक्खाड़ों' की ओर भी संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि:-

वे हैं नरक के दूत किंवा सूत है कलिराज के
वे मित्ररूपी शत्रु ही हैं देश और समाज के।[3]

संगीत की भी दुर्गति देख कर उन्होंने ठंडी आह भरी और बोले—

संगीत में जब से मदन की मूर्त्ति अंकित हो गई।
वह भावुकों की भक्तवाणी भी कलंकित हो गई॥[4]

---

१. देखिये पृष्ठ १८।

२. भारत भारती पृ० १२१।

३. भारत-भारती पृ० १२२।

४. भारत-भारती पृ० १२३।

अतः उन्होंने हमें आदेश दिया कि :—

अब तो विषय की ओर से मन की सुरति को फेर दो
जिस ओर गति हो सयम की उस ओर मति को फेर दो।
गाया बहुत कुछ राग तुमने योग और वियोग का
सञ्चार कर दो अब यहाँ उत्साह का, उद्योग का॥[1]

पाठक जानते हैं कि उत्तरोत्तर प्रतिभा के विकास के साथ गुप्तजी श्रृंगार के विरुद्ध इस उग्र भावना को निबाह नहीं सके; और नहीं निबाहना ही उनकी प्रतिभा के विकास में साधक हुआ। पर फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि गुप्तजी का श्रृंगार संयत श्रृंगार है, उद्दाम नहीं। इस सम्बन्ध में उनकी तुलना तुलसी से कर सकते हैं। तुलसी ने श्रृङ्गारिक परिस्थितियों के चित्रण में बड़ी ही सूक्ष्म एवं सौम्य तूलिका से काम लिया है, यथा निम्नांकित पंक्तियों में :—

बहुरि बदन–बिधु अंचल ढाँकी
पियतनु चितै दृष्टि करि बाँकी
खंजन–मञ्जु तिरीछे नैननि
निजपति तिनहिं कह्यौ सिय सैननि।

---

१. भारत भारती पृ० १७१।

तुलना कीजिए शायर की लाइनें —

गुनहगार वो छूट जायेंगे सारे
जहन्नुम को भर देंगे शायर हमारे॥

इसी प्रकार एक पाश्चात्य कवि ने भी लिखा है —

O Gracious God! how far have we
Profaned thy heavenly gift of poesy.

गुप्तजी ने भी प्रायः शृङ्गारिक वर्णनों को कच, कुच, कटाक्षों की 'नग्न-माधुरी' से बचाए रक्खा है। सूक्ष्म तथा सफल शृङ्गारिक वर्णन वे ही समझे जाने चाहियें जो चुपके से हमारी सुप्त सौन्दर्यभावना को सजग कर दें, और सो भी उतनी ही दूर तक, जिसमें वह वासना के आँगन में पैर न रखने पावे। स्थूल ऐन्द्रियिक परिस्थितियों के सहारे शृङ्गार का जो उद्भावन होगा उसे उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता। इसी कारण ललित कला को "मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण" कहा गया है[1]। 'मानसिक दृष्टि' से सौन्दर्य की सूक्ष्मता की ओर भी संकेत है।

शृङ्गाररस की सूक्ष्मता पर विचार करते हुए हमें यह भी जान लेना चाहिये कि आलम्बन के प्रति कवि की अत्यधिक भक्तिभावना शृङ्गाररस के परिपाक में बाधक सिद्ध होती है। उदाहरणतः हम तुलसी के उन पदों को लें जिनमें जनकपुर के स्वयंवर के अवसर पर तरुणी सीता का वर्णन किया गया है।

सिय शोभा नहिं जाइ बखानी।
जगदम्बिका रूप गुन खानी॥

❀ ❀ ❀

जो छवि सुधा पयोनिधि होई।
परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभारजु मंदर सिंगारू।
मथै पानि पंकज निज मारू॥

---

१. श्यामसुंदर दास—गद्यकुसुमावली पृ० ७।

यहि विधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुख मूल ।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय समतूल ॥
चली संग लै सखी सयानी ।
गावति गीत मनोहर बानी ॥
सोह नवल तनु सुंदर सारी ।
जगतजननि अतुलित छवि भारी ॥

इन पद्यों में सीता के सौन्दर्य का वर्णन शृङ्गाररस का पोषक है और प्रसंग भी शृङ्गाररस का ही है, लेकिन तुलसी की भक्तिभावना ने 'जगदंबिका' और 'जगतजननि' पदों का प्रयोग करके मानों अनधिकार चेष्टा कर दी है ; मानों शृंगार की लहरियाँ बड़े वेग से इठलाती और दौड़ती हुई आ कर दोनों किनारों पर के शांत शिलाखण्डों से अचानक टकरा कर फेनिल एवं क्षत-विक्षत हो गई हैं । तुलसी की इन पंक्तियों में शृङ्गाररस शांतरस के साथ उलझ गया है । गुप्तजी के 'साकेत' से भी इस प्रकार के रस-संघर्ष का कम से कम एक उदाहरण उद्धृत किया जा सकता है :—

अंचल पट कटि में खोंस, कछोटा मारे
सीता माता थीं आज नई धज धारे ।
अंकुर-हितकर थे कलश-पयोधर पावन
जन-मातृ गर्वमय कुशल वदन मन भावन ।
... ...
कंधे ढँक कर कच छहर रहे थे उनके
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके ।
... ...

रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती ॥ आदि[1]

इन पंक्तियों में सीता के शृङ्गार का इतना सजीव वर्णन करते हुए भी कवि अपनी धार्मिक भावुकता के आवेश में आकर 'सीतामाता' कहकर संबोधित करने का लोभ संवरण नहीं कर सका है। हमारा निजी विचार है कि यहाँ पर सीता का मातृस्वरूप अप्रासंगिक है और रस के परिपाक में बाधक है। कवि को राम की निगाहों से सीता को देखना था, न कि अपनी। और फिर यदि अपनी ही निगाहों से देखा, पुत्र बनकर, तो अंकुर-हितकर कलश-पयोधर एवं ललित लचीली लंक का वर्णन कहाँ तक मर्यादित माना जायगा—यह विचारणीय है।

२. चरित्र-चित्रणः—गुप्तजी के काव्यों के सभी चरित्रों की आलोचना न तो अपेक्ष्य है और न इस वक्तव्य की सीमित परिधि में सम्भव ही है। इसके अतिरिक्त पुस्तक के मुख्यांश में भिन्न भिन्न पात्रों के चरित्रगत कारुण्य पर विचार करते हुए यथावसर उनके चरित्र की सामूहिक समीक्षा भी की गई है। इस प्रसंग में दो चार ऐसी परिस्थितियों की ओर निर्देश किया जायगा जिसमें हम कवि के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों का परिचय पा सकें, क्योंकि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही चरित्र-चित्रण के प्राण हैं। 'साकेत' के एकादश सर्ग के आरम्भ में कवि भरत के अनूठे तपस्विवेश का वर्णन करते हुए लिखता है—

बायीं ओर धनुष की शोभा, दायीं ओर निषंग-छटा।
बाम पाणि में प्रत्यञ्चा है, पर दक्षिण में एक जटा[2]।

---

१. साकेत पृ० २०४-२०५।

२. साकेत पृ० ३७१।

फिर क्रमशः व्रत-निरत मांडवी आती है। भरत और मांडवी परस्पर संयुक्त होते हुए भी व्रतनिष्ठा के कारण वियुक्त हैं। तपस्विनी मांडवी तपस्वी भरत के पास आती है।

उठ धीरे, प्रिय-निकट पहुँच कर उसने उन्हें प्रणाम किया।
चौंक उन्होंने, सँभल 'स्वस्ति' कह, उसे उचित सम्मान किया।
"जटा और प्रत्यञ्चा की उस तुलना का क्या फल निकला ?"
हँसने की चेष्टा करके भी हा ! रो पड़ी वधू विकला॥ [१]

इस अन्तिम पंक्ति में कवि ने उलझन-जटिल परिस्थिति का एक संसार ही खड़ा कर दिया है; हास्य और रुदन की दो परस्पर विरोधी मनोवृत्तियों की विचित्र गंगा-जमुनी सी प्रवाहित कर दी है। मांडवी के हृदय में भरत की वीर शान्त-संवलित ऊढक वेशभूषा पर परिहास का मनोवेग आते आते ठिठक जाता है, क्योंकि वह अंकुरित भी नहीं होने पाता है कि मांडवी और उसके परिवार की दयनीय परिस्थिति की विकलता उसका गला घोंट देती है। इस प्रसंग में करुण और हास्य, ये दोनों रस आपस में गुँथ गए हैं, शांत और शृङ्गार के पुट ने इस मनोवैज्ञानिक गोरखधंधे को और भी पेचीदा बना दिया है। शान्त अन्तर्धारा के रूप में करुण का पोषक है, शृङ्गार हास्य का।

विषम मनोभावों के सफल समन्वय का एक दूसरा उदाहरण हम 'यशोधरा' के उस प्रसंग में पाते हैं जिसमें पति के वियोग से विकल यशोधरा की आँखो से अनायास ही आँसू ढुलक पड़ते हैं, किन्तु इस वेदना के वेग को वह

१. साकेत पृ० ३७२।

इस कारण कुंठित करना चाहती है कि उसके पुत्र के हृदय-दर्पण पर उसके आँसुओं की मलिन छाया न अंकित हो जाय। वह रोते रोते हँस देती है। इस हँसी के द्वारा वह भले ही अपने हृदय पर क्षणिक विजय प्राप्त करले, लेकिन उसके आँसू उसकी पराजय का इजहार कर ही देते हैं। रहीम ने क्या ही सुन्दर कहा है—

रहिमन अँसुवा नैन ढरि, जिय दुख प्रकट करेइ।
जाको घर ते काढ़िये, क्यों न भेद कहि देइ॥

विजय और पराजय, आँसू और मुस्कान के इस संघर्ष-सम्पर्क को कवि ने जिस कलात्मकता के साथ व्यञ्जित किया है वह मनावैज्ञानिकता की दृष्टि से प्रशंसनीय है। यशोधरा स्वयं कहती है—

रोना गाना बस यही जीवन के दो अंग।
एक संग में ले रही दोनों का रस-रंग॥[1]

विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण की दृष्टि से, सामूहिक रूप में, हम 'यशोधरा' को 'साकेत' से मूर्धन्य मान सकते हैं, क्योंकि हम आरम्भ से ही उसकी मुख्यपात्री यशोधरा के जीवन में उग्र अन्तर्द्वंद्व पाते हैं। अपने पति के लिये उसे दम्भ भी है, उपालम्भ भी है; वह गर्वोन्नता मनस्विनी भी है, पति-परायणा तपस्विनी भी है, उसमें आत्माभिमान की भी प्रवृत्ति है, आत्मदान की भी; इसके अतिरिक्त उसके मातृत्व तथा पत्नीत्व में भी परस्पर प्रतिस्पर्धा है और काव्य का मुख्यांश इसी के सूक्ष्म प्रतिपादन में प्रेरित हुआ है। 'यशोधरा' का सिद्धार्थ भी 'साकेत' के राम से कहीं अधिक मानव

---

१. यशोधरा पृ० १६७।

है। वह अपनी पत्नी की आलोचनाओं का भागी होता है, किन्तु राम भगवान् हैं, भगवान् के अवतार हैं, आलोचनाओं से परे। जितनी जल्दी हम सिद्धार्थ से अपना तादात्म्यसम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं उतनी राम से नही। माइकेल मधुसूदन दत्त के विषय में यह कहा गया है कि उन्होंने मेघनाद के चरित्र-चित्रण में दानव को मानव बना दिया है। उसी प्रकार गुप्तजी के संबन्ध में भी कह सकते हैं कि उन्होंने मानव को अतिमानव बना दिया है। 'साकेत' के लक्ष्मण भी परम्परागत लक्ष्मण के समान उग्र प्रकृति के हैं, किन्तु वही कही उनकी उग्रता का जो चित्र गुप्तजी ने प्रस्तुत किया है उसे गले के नीचे उतारने में झिझक होती है। यथा—कैकेयी की ओर इंगित करते हुए लक्ष्मण के ये वचन--

खड़ी है माँ बनी जो नागिनी यह
अनार्या की जनी हतभागिनी यह।

... .

बने इस दस्युजा के दास है जो
इसी से दे रहे वनवास है जो।[१]

—इत्यादि।

इस प्रसंग की लक्ष्मण की सारी उक्तियाँ अमर्यादित एवं अनागरिक सी जॅचती है। शीलवान् और अभिजात व्यक्ति के क्रोध का आवेश भी शीलवत्ता और आभिजात्य की चहारदिवारी को निर्लज्जता के साथ नहीं नॉघ सकता।

---

१. साकेत पृ० ६१ ६२।

इन कुछेक चरित्रों के सम्बन्ध में कुछेक प्रतिकूल आलोचनाओं का अवकाश है, और रहेगा--गुप्तजी के ही सम्बन्ध में नहीं अपितु प्रत्येक कवि के सम्बन्ध में। किन्तु इसका यह मतलब कभी नहीं कि इनके आधार पर हम कवि के चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में उपेक्षाभाव का आधान करें। संभव है इन आलोचनाओं के मूल में व्यक्ति-विशेषकी विशिष्ट सौन्दर्यभावना ही काम करती हो, फिर भी आलोचना-संसार के लिए इनकी उपयोगिता निर्विवाद है। कवि के गुणावगुणों के निदर्शन के अतिरिक्त भी आलोचना का एक महान् लक्ष्य है—विश्लेषणात्मक बुद्धि का उद्बोधन। संभव है एक निष्पक्ष आलोचक प्रथम लक्ष्य में भ्रान्ति का भागी हो, किन्तु फिर भी दूसरे लक्ष्य की पूर्त्ति में वह सहायक होगा ही।

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में अपना संक्षिप्त वक्तव्य उपसंहृत करने के पूर्व हम पाठक का ध्यान गुप्तजी की कला की दो विशेषताओं की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। वे हैं—

(i) कथोपकथनों द्वारा चरित्र का विश्लेषण।

(ii) हृदय के लम्बे उद्गारों द्वारा चरित्र का उद्घाटन।

दोनों ही विशेषताएँ पर्याप्त रूप में गुप्तजी की कृतियों में पाई जाती हैं। प्रथम का उदाहरण 'यशोधरा' का राहुल-यशोधरा-संवाद है, और द्वितीय का चित्रकूट में कैकयी का वह दीर्घ हृदयोद्गार[1] जिसमें उसकी आत्मा मानों अनुताप के ताप में गल कर कविता की क्यारियों में ढुलक पड़ी है।

३. भावस्थितियों की चित्रवत्ता:—चित्रवत् अंकन भावोद्भावन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यहाँ भावस्थितियों से तात्पर्य हृदयगत भावनाओं को

---

१. साकेत पृ० २३०-३७।

अभिव्यञ्जक भावभंगियों से है। कभी कभी कोई कलाकार किसी परिस्थिति-विशेष की भावभंगियों पर मुग्ध होकर जब तक उन्हें एक एक कर अपने पाठकों के मानसपटल पर मुद्रित नहीं करा देता, तब तक उसे सन्तुष्टि ही नहीं होती। संभवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमारे साहित्यकारों ने 'स्वभावोक्ति' को अलंकारों में गिना था। यह आवश्यक नही है कि सौन्दर्य को कल्पना का नमक-मिर्च लगा कर ही रसिकों के सामने परोसा जाय। उसका हूबहू चित्रण भी कलाकार ही के बूते की बात है, जनसाधारण की नहीं। संभव है किसी फूल के सौन्दर्य को देखकर अकलाकार भी उसी तरह भावविभोर हो जाय जिस तरह एक कलाकार; पर अन्तर यही है कि अकलाकार की अनुभूति 'गूँगे का गुड़' है, किन्तु कलाकार अपनी अनुभूति को मधु के प्याले में परोस कर पाठकों को भी बाँट देता है। इतना ही नहीं, कलाकारकृत वस्तुस्थिति का चित्रण उस वस्तुस्थिति के प्रत्यक्ष करनेवाले सामान्य मनुष्य के लिये टीका-टिप्पणी का काम देता है; उसे उसकी निजी सौन्दर्य-भावना का सूक्ष्म विश्लेषण करने सिखाता है; मानों उसकी गूँगी भावुकता को जबान दे देता है। उदाहरण के लिए हम कालिदास के निम्नलिखित श्लोक को लें—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥ [1]

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल—अंक १ श्लोक ७।

अथवा सूरदास से—

अरुझो री मेरो बालगोविंदा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन का माँगै चंदा।
बासन कै जल धर्यौ जसोदा, हरि को आनि दिखाव
रुदन करत ढूँढ़ै नहि पावत धरनि चंद क्यों आवै।

इन कवियों ने बहुत ही साधारण वस्तुस्थितियों का चित्रण किया है, जिनका अनुभव कोई भी शिकारी और सामान्य व्यक्ति नित्यप्रति करता है और कर सकता है। मृग की दौड़ तथा बचपन की केलिक्रीड़ा बिलकुल साधारण सी बात है और उसे देखकर किसे आनन्द नही होता? किन्तु आनन्द लूटना और बात है, लुटाना और। वही व्यक्ति जिसने सतृष्ण नेत्रों से मृग को दौड़ते देखा है अथवा बालसुलभ लीला से आनन्द उठाया है—वही व्यक्ति जब कविकृत मृगवर्णन और बालवर्णन को पढ़ता है, तो, जो दृश्य केवल धुँधले और सामूहिक रूप से उसके मानसपटल पर अंकित था वह स्पष्टतर और विश्लिष्ट रूप में अंकित हो जाता है; अथवा जो दृश्य साधारण अथवा दिन दिन होने के कारण तुच्छ जान पड़ता था वही कलाकार की लेखनी से जीवित होकर 'अमित तोष' उपजाने में समर्थ होता है।

वस्तुस्थितियों और मनस्थितियों के विस्तृत एवं जीवित वर्णनों से गुप्तजी के काव्य भरे पड़े हैं। प्रस्तुत पुस्तक में कई के विषय में चर्चा हुई है; यहां केवल दो चार की ओर संकेत करना पर्याप्त होगा। यथा–'साकेत' के प्रथम सर्ग में उर्मिला का वर्णन सुन्दरी उर्मिला को मानो हमारे सामने लाकर खड़ा कर देता है।

अरुण पट पहने हुए आह्लाद में
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में
.. ..
स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला
नाम है इसका उचित ही 'उर्मिला'।[1]

उर्मिला को ही रौद्रवेष में प्रत्यक्ष कीजिये--

आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानी
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी!
× × × × ×
जटाजाल से बाल विलम्बित छूट पड़े थे
आनन पर सौ अरुण, घटा में फूट पड़े थे।
माथे का सिन्दूर सजग अंगार-सदृश था
प्रथमातप-सा पुण्यगात्र, यद्यपि वह कृश था।
बायाँ कर शत्रुघ्न-पृष्ठ पर कण्ठ निकट था
दाएँ कर में स्थूल किरण-सा शूल विकट था॥[2] आदि।

'भारतभारती' में भी वस्तुस्थितियों के संक्षिप्त किन्तु सजग चित्र अनेकों भरे मिलेंगे। यथा रईसों के वर्णन में--

उनकी सभा 'इन्दर-सभा है', इन्द्र उनको लेख लो
वह पूर्ण परियों का अखाड़ा भाग्य हो तो देख लो।

---

१. साकेत पृ० ११-१२।
२. ,, ,, ४२५।

हाँ नाच भोग विलास हित उनका भरा भण्डार है
धिक् धिक् पुकार मृदंग भी देता उन्हें धिक्कार है।
वे जागते हैं रात भर, दिन भर पड़े सोवें न क्यों?
है काम से ही काम उनको, दूसरे रोवें न क्यों? [१]

अन्य रचनाओं से उद्धरणों की संख्या न बढ़ाकर इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि कवि की कलम जहाँ और जिस परिमाण में चाहती है, वहाँ और उस परिमाण में वर्णनीय वस्तुस्थितियो एवं मनस्थितियों के जीवित-जाग्रत् मूर्त्तिमान् चित्र पाठकों के मानसचक्षुओं के सामने प्रस्तुत कर देती है। ये चित्र प्रतिपाद्यभावों के पृष्ठाधार अथवा प्रतिमूर्त्ति बनकर उनकी टिप्पणियाँ बन जाते हैं और उनके वैशद्य में सहायक होते हैं।

४. कल्पना का उत्कर्ष--कल्पना (Imagination) ही कवि अथवा कलाकार की विशेषता है। उसकी प्रत्येक सृष्टि में आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों अपरिच्छेय रूप से मिले रहते हैं। प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' अथवा 'सेवा-सदन' को समग्र रूप में भले ही हम संसार की सतह पर न पा सकें, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि ये अंशतः भी अनुपलभ्य हैं। यथार्थ घटनाओं को ही कलाकार उनके देश, काल, पात्र की सीमाओं से विच्छिन्न करके उन्हें सार्वभौम एवं सार्वकालिक रूप दे दिया करता है। इस 'साधारणीकरण' के लिये जिस मानसिक शक्ति की उसे अपेक्षा होती है, उसका नाम है कल्पना। कला के लिये कल्पना अनिवार्य है। मान लीजिये कि आपको अपनी प्रति-च्छवि (फोटो) चाहिये। आप फोटोग्राफर की स्टूडियो में जाते हैं। वहाँ

---

१. भारत भारती पृ० ११२-११३।

देखेंगे कि वह आपका फोटो लेने के पहले आपकी वेशभूषा, आकृति, चेष्टा-सबों में कुछ परिष्कार करेगा; फिर आपको फूलों के गमलों के बीच में रख कर आपके लिये एक सुन्दर पृष्ठभूमि (background) तैयार कर देगा। जब आप उसकी नजर में जँच जायेंगे, तब वह आपका फोटो उतार लेगा। आप अपना फोटो देखकर संभवतः आपही मुग्ध हो जायँगे। इसका कारण यह है कि आपकी यथार्थता के साथ फोटोग्राफर का आदर्श भी मिल गया है, और यथार्थवाद तथा आदर्शवाद के इस सम्मेलन ने आपकी श्रीवृद्धि कर दी है।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुस्थिति को सुन्दर एवं सुन्दरतर रूप में प्रस्तुत करने के लिए उस पर कल्पना की कूची फेरना अनिवार्य हो जाता है। कल्पना ही आदर्शवाद की जननी है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि गुप्तजी के काव्यों का कोई पात्र ऐसा नहीं जो सर्वतोभावेन यथार्थ हो। जयद्रथ, अर्जुन, अभिमन्यु, उत्तरा, कीचक, द्रौपदी, सिद्धराज, यशोधरा, राहुल, मांडवी, उर्मिला—कोई भी चरित्र ऐसा नहीं है जिसके चित्रण में कवि ने मनगढ़ंत बातें नहीं लिखी हों। वस्तुतः, यदि कल्पना न हो, तो बहुत से महाकाव्यों को इतिहास की संज्ञा देनी होगी। अरस्तू ने इतिहास और काव्य की परस्पर भिन्नता पर विचारते हुए लिखा है कि ज्यों का त्यों घटनाक्रम का वर्णन कवि-कर्म नही है; उसे तो उसको सार्वभौमता का बाना पहनाना पड़ता है; इतिहास का संबन्ध विशिष्ट से है, काव्य का सामान्य से; केवल छन्दोबद्ध कर देने से ही इतिहासकाव्य नही बन जाता।[१]

---

१. It is not the function of the poet to relate what has happened, but what may happen......The work of

एक दूसरे प्रसंग में अरस्तू ने कविता को "कुशलता के साथ झूठ बोलने की कला" कहा है।[१] इसमें सन्देह नहीं कि यह कला कल्पना का ही नामान्तर है। कवि को 'स्वयंभू' भी इसीलिये कहा गया है कि वह अपनी नई सृष्टि कल्पना के आधार पर खड़ी किया करता है।[२]

सामूहिक रूप से पात्रों अथवा कथानकों के सृजन में कल्पना का जो महत्त्वपूर्ण भाग रहता है उसे समझ लेने के पश्चात् उसके द्वारा पद्य-संदर्भों में जो सौन्दर्यविधान होता है उस पर भी कुछ विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। सच पूछा जाय तो जितने भी अलंकारों का विधान हमारे आचार्यों ने किया है उन सबों की तह में 'वक्रोक्ति' अथवा अत्युक्ति है। किसी वाक्यको कुछ चमत्कार या विच्छित्ति के साथ रूपान्तरित करके रखना 'वक्रोक्ति' है;[3]

Herodotus might be put into verse, and it would still be a species of history, with metre no less than without it......Poetry tends to express the universal, history the particular.

The Poetics of Aristotle (Ed. S. H. Butcher) p. 35.

१. It is Homer who has chiefly taught other poets the art of telling lies skilfully.

The Poetics of Aristotle, P. 95.

२. कल्पना के उत्कर्ष के सम्बन्ध में पढ़िये लेखक का 'महाकवि हरिऔधका प्रियप्रवास'—पृ० ५७।

३. आचार्य कुन्तक ने तो वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा माना है। 'वक्रोक्ति-जीवितं काव्यम्'।

उसको बढ़ा चढ़ा कर कहना अत्युक्ति है। उदाहरणतः सूर को विष्णु भगवान् से यह निवेदन करना है कि वे बहुत बड़े पापी हैं। किन्तु सीधे सादे ऐसा न कहकर वे लिखते हैं—

जो गिरिपति मसि घोरि उदधि में,
ले सुरतरु निज हाथ।
मम कृत दोष लिखैं वसुधा भरि,
तऊ नहीं मिति नाथ॥

अथवा विद्यापति—

सुरपति पाए लोचन माँगओं
गरुड़ माँगओ पाँखि।
नन्द क नंदन में देखि आवओं
मन मनोरथ राखि॥

ऐसे पद्यों में कवि अपनी कल्पना के उत्कर्ष से साधारण से साधारण वाक्यों में भी अद्भुत चमत्कार का समावेश कर देता है।

गुप्तजी के काव्यों में उत्कृष्ट कल्पना के उत्कृष्ट नमूने भी भरे पड़े हैं। यथा, राहुल कहता है—

विहग-समान यदि अम्ब, पंख पाता मैं
एकही उड़ान मे तो ऊँचा चढ़ जाता मैं।
मंडल बनाकर मैं घूमता गगन में
और देख लेता पिता बैठे किस वन में।

... ...

किन्तु बिना पंखों के विचार सब रीते हैं
हाय ! पक्षियों से भी मनुष्य गए-बीते हैं ।[१]

जहाँ निर्जीव प्राकृतिक पदार्थों का सजीववत् वर्णन किया जाता है वहाँ भी कल्पनोत्कर्षका परिचय मिलता है। कल्पना ही मानों प्राण बनकर निर्जीव पदार्थों में पैठ जाती है; उनके पहलू में दिल बनकर कूक उठती है। 'साकेत' का नवम सर्ग पद पद पर कल्पना की इस कूक अथवा हूक के उदाहरण प्रस्तुत करता है। यथा——

आ जा, मेरी निदिया गूँगी !
आ ! मैं सिर आँखों पर लेकर चन्द खिलौना दूँगी !
... ...

पलक-पाँवड़ों पर पद रख तू
तनिक सलौना रस भी चख तू
आ, दुखिया की ओर निरख तू
मैं न्योछावर हूँगी।
आजा, मेरी निदिया गूँगी ॥[२]

—इन पंक्तियों में नींद को सहेली मानकर उससे हृदय की बातें कही गई हैं।

कल्पना का उत्कर्ष कविता का उत्कर्ष है। गुप्तजी के कुछ प्राथमिक अथवा

---

१. यशोधरा पृ० ७६।

२. साकेत पृ० २६७।

पीछे के जातीयता तथा सांप्रदायिकता से संबन्ध रखनेवाले काव्यों में कल्पना का अभाव अवश्य है। उदाहरणतः—

छुरे काटते है जो नार
होते है बहुधा सविकार।[1]

अथवा—

अब भी हो तुम कृषिप्रधान
गोबर का तो रक्खो ज्ञान।[2]

किन्तु ये काव्य तत्त्वतः काव्य न होकर छन्दोबद्ध उपदेश-से हैं; उग्र उपयोगितावाद ने इन पंक्तियों का गला घोंट रक्खा है। अतः इनमें कल्पना-जन्य माधुर्य कहाँ? वस्तुतः तथ्य यह है कि कोई भी कविता हो, उसमें बुद्धि-तत्त्व और रागात्मक तत्त्व-होंगे दोनों ही; किन्तु कविता के लिये आवश्यक है कि रागात्मक तत्त्व की प्रधानता बनी रहे। जहाँ बुद्धितत्त्व की विजय-वैजयन्ती रागात्मक तत्त्व की अट्टालिकाओं पर फहराने लगेगी, वहाँ काव्यत्व का ह्रास होना अनिवार्य है।

(३) भाषा सौष्ठवः—काव्यगुणों में हमारे आचार्यों ने प्रसाद, ओज-और माधुर्य को गिनाया है। इनमें ओज और माधुर्य का संबंध वीर शृंगार आदि रसविशेष अथवा प्रसगविशेष से है; किन्तु प्रसादगुण की उपादेयता सर्वदा और सर्वथा है। गुप्तजी की भाषा प्रसाद एवं प्राञ्जलता के लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने कभी भी भाषा को क्लिष्ट बनाकर अपनी धुँधली धाक जमाने की मनोवृत्ति अपने में नही आने दी। यह भी गुप्तजी को ख्याति का एक

---

१. हिन्दू पृ० १५४।

२. हिन्दू पृ० १३१।

कारण रहा है और उन्हें "सर्वसाधारण के कवि"[1] बनाने में सहायक हुआ है। खामोखाह अलंकारों को ठूँसने की चेष्टा भी कवि ने कहीं नहीं की है। भावों के प्रवाह में उन्हें सजाने-सँवारने आगए सो आगए; जान बूझ कर उन्हें-पिरोने का प्रयास नहीं किया गया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार यत्र-तत्र सर्वत्र आ जुड़े हैं; विस्तारभय से उनके उदाहरण नहीं दिये जाते हैं। किन्तु सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि गुप्तजी की प्राथमिक रचनाओं में अर्थान्तरन्यास, निदर्शना और दृष्टान्त का बाहुल्य मिलता है। इसका मुख्य कारण है उनकी उपदेशप्रवणता। उदाहरण—

जिस लेखनी ने है लिखा उत्कर्ष भारतवर्ष का
लिखने चली अब हाल वह उसके अमित अपकर्ष का।
जो कोकिला नन्दन विपिन में प्रेम से गाती रही
दावाग्नि-दग्धारण्य में रोने चली है अब वही।[2]

अथवा

संसार में किसका समय है एक-सा रहता सदा
है निशि-दिवा-सी घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा,
जो आज एक अनाथ है नरनाथ होता कल वही
जो आज उत्सव-मग्न है कल शोक से रोता वही।[3]

---

१. शान्तिप्रिय द्विवेदी—हमारे साहित्यनिर्माता पृ० ८२।

२. भारत-भारती पृ० ८५।

३. भारत भारती पृ० १।

अनुप्रासादि शब्दालंकारों की छटा प्रायः सर्वत्र दीख पड़ती है; तुकों में तो कहीं कही औचित्य की सीमा भी उल्लंघित कर दी जाती है। जहाँ तहाँ श्लेष का भी संश्लेष हुआ है। पर ऐसे उदाहरण बहुत कम है। एक 'यशोधरा' से—

आली, वही बात हुई, भय जिसका था मुझे
मानती हूँ उनको गहन–वन–गामी मै
ध्यान–मग्न देख उन्हें एक दिन मैंने कहा—
'क्यों जी, प्राणवल्लभ कहूँ या तुम्हें स्वामी मैं ?'
चौंक कुछ लज्जित-से, बोले हँस आर्य पुत्र—
'योगेश्वर क्यों न होऊँ, गोपेश्वर नामी मै !
किन्तु चिन्ता छोड़ो, किसी अन्य का विचार करूँ
तो हूँ जार पीछे प्रिये ! पहले हूँ कामी मैं'।[1]

—इस पद्य में अधोरेखांकित पदों में दो दो अर्थ छिपे हुए हैं, जिनके उद्भावन में कही कहीं क्लिष्टकल्पना की अपेक्षा होती है। प्रसादगुणोपेत श्लेष का भी एक उदाहरण, 'सिद्धराज' सेः—

"ऐसा ह्रद एक सुना मैंने आपके यहाँ
जो भी गिरे उसमें सलोना बन जाता है
अद्भुत है।" राजा मुसकाया और बोला "हाँ"
"मधुर रहेगी तू वहाँ भी !" कहा भट ने।[2]

---

१. यशोधरा पृ० २०।

२. सिद्धराज पृ० ९६।

इस पद्य में विरोधाभास का भी सुन्दर चमत्कार है।

भाषा-लालित्य के संबन्ध में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि गुप्तजी की आरंभिक कृतियों में उग्रता और कर्णकटुता दीख पड़ती है; किन्तु क्रमशः रचनाम्भोधि की क्षुब्धता मंद पड़ जाती है, और ललित ललित पदावलियों की लोल लोल लहरियाँ भावों के मन्द मन्द मलयानिल के झूले पर झूल झूल कर नाचने लगती हैं। 'यशोधरा', 'सिद्धराज' और 'साकेत'—ये तीन हिन्दी के हृदयहार के हृदयहारी हीरे हैं।

(४) रचना-शैली—

रचना-शैली की दृष्टि से काव्य का विभाजन निम्न प्रकार से किया जा सकता है:—
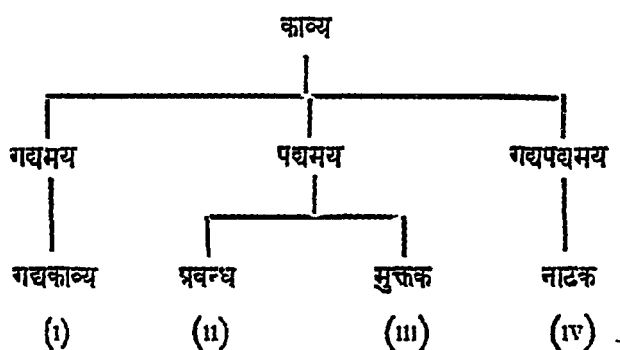
इनमें विशिष्ट शैली के रूप में गुप्तजी ने कोई गद्यकाव्य नहीं लिखा बाकी रहे तीन—प्रबन्ध, मुक्तक और नाटक। इनके अन्तर्गत आनेवाली रचनाओं के परिज्ञान के लिये निम्नलिखित तालिका[1] पर्याप्त होगी।

---

१. अनुवादों की चर्चा मौलिक न होने के कारण अनावश्यक है।

प्रबन्ध	मुक्तक	नाटक
रंग में भंग	भारत भारती	चन्द्रहास
जयद्रथवध	मंगलघट	तिलोत्तमा
शकुन्तला	पत्रावली	अनघ
पंचवटी	वैतालिक	
सैरंध्री	स्वदेश संगीत	
वनवैभव	हिन्दू	
बकसंहार	झंकार	
किसान		
विकटभट		
गुरुकुल		
द्वापर		
यशोधरा		
साकेत		
नहुष		

प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों श्रव्य काव्य हैं; नाटक, दृश्य। प्रबन्ध किसी कथानक का सामूहिक एवं शृङ्खलाबद्ध चित्र प्रस्तुत करता है, मुक्तक किसी वस्तुस्थिति अथवा मनस्थिति का स्फुट चित्र मात्र। नाटक प्रबन्ध के ही समान किसी कथानक का आधार लेकर चलता है, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य होता है पात्रों के कथोपकथन द्वारा उनके चरित्रों का विश्लेषण। मुक्तक का गीतिप्रधान (Lyrical) होना आवश्यक है।

अब प्रश्न यह है कि-क्या गुप्तजी ने अपनी रचनाओं में इन भेदों को स्पष्टरूप से व्यक्त करने की चेष्टा की है? उत्तर होगा-'नहीं'। सामान्यतः

इन भेदों का प्रतिनिधित्व करती हुई भी उनकी रचनाएँ अपने व्यक्तित्व और मौलिकता की छाप लिए हुई हैं। 'द्वापर' और 'गुरुकुल' स्फुट भी हैं, प्रबन्ध भी हैं। 'यशोधरा' तो इसका ज्वलन्त प्रमाण है। कवि ने इस रचना के 'शुल्क'[1] में भाई 'सियारामशरण' से एक पथिक की कहानी कहकर फिर उसपर टिप्पणी के रूप में कहा है—"कहानी तुम्हें रुची हो या नहीं, परन्तु मेरी शक्ति का विचार किये विना ही मुझ से ऐसे ही अनुरोध किया करते हो। कविता लिखो, गीत लिखो, नाटक लिखो। अच्छी बात है। लो कविता, लो गीत, लो नाटक और लो गद्य पद्य तुकान्त अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं।" ये पंक्तियाँ ठीक ठीक यशोधरा की शैली का प्रतिनिधित्व करती हैं। कवि के हाथों 'यशोधरा'-जैसी 'खिचड़ी' के पकाए जाने का यही अभिप्राय होता है कि कवि अपनी शैली के लिए स्वतंत्र है, वह खामोखाह दकियानूसी आचार्यों की परिभाषा की मुहर लगाकर अपनी कविता का रूप नहीं सँवारना चाहता; उसे तो अपनी निजी सौन्दर्यभावना पर गर्व है; वह अनायास ही कलम की आत्मा बनकर उसे यथेष्ट मार्गों में प्रेरित करेगी,—समतल में भी, विषमतल में भी; क्यारियों में भी, कँकरीली पगडंडियों पर भी। शैली की मनोनीतता और मौलिकता भी गुप्तजी के नवयुग की सहानुभूति अर्जित करने में सहायक हुई है।

इसके अतिरिक्त कवि की शैली की निम्नलिखित विशेषताओं पर भी ध्यान देना चाहिए:—

(क) ललित पदावली और भावानुरूप भाषा।

---

१ 'प्राक्कथन' 'भूमिका' 'अवतरण' आदि पदों के लिए 'शुल्क' आदि का प्रयोग कवि की मौलिकता का द्योतक है।

(ख) छन्दों का वैविध्य।

(ग) संगीतमयता और तुकान्तता–'सिद्धराज' की विशेषता।

(घ) व्यंग्यात्मक हास्य-शैली (Satire)।

(ङ) कथोपकथन की कलात्मकता।

(क) ललितपदावली और भावानुरूप भाषा:-यह पहले ही कहा जा चुका है कि कवि की प्रतिभा ज्यों ज्यों अग्रसर होती गई है त्यों त्यों पदावलियाँ भी पेलव-पेशल होती गई हैं।

भावानुरूप भाषा के एकाध उदाहरण पर्याप्त होंगे।

सखि! निरख नदी की धारा
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भरके
उछल उछल कर, छल छल करके
थल थल तरके, कल कल धरके
बिखराता है पारा![1]

इन पंक्तियों को पढ़ने से ऐसा मालूम होता है मानों नदी की धारा कल-कल छल-छल करती हुई इन्हीं में ढुलक पड़ी है।

अन्यत्र—

बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कोई भी
विघ्न भी यही है, जहाँ जाने से जगत में।
... ...
... ...

---

१ साकेत पृ० २८४।

भव में किसी का हुआ ? कोई कहीं ज्ञाता हो,

तो मुझे बता दे हा ! बता दे हा ! बता दे हा ! (मूर्च्छा)[१]

इन पंक्तियों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होने लगता है मानों भावना की गाड़ी बड़ी तेज रफ्तार में चलती हुई, न स्टेशनों पर रुकती, न घुमावों पर हौले हौले मुड़ती, अचानक अपनी पटरी से उतर पड़ती है और उलट कर चकनाचूर हो जाती है। मानिनी यशोधरा की मनोवृत्ति को भी उस समय कुछ ऐसी ही हालत थी।

(ख) छन्दों का वैविध्यः—गुप्तजी ने मात्रिक और वर्णिक दोनों तरह के छन्दों का प्रयोग किया है—पीयूषवर्ष, शृङ्गार, सुमेरु, हाकलि, पादाकुलक, सोरठा, घनाक्षरी, सवैया, आर्या, गीति, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित आदि। किन्तु वर्णिक वृत्तों का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रतिभा को ध्यान में रखते हुए ऐसा होना उचित भी है।[२] 'साकेत' के नवम सर्ग के पद पद पर परिवर्तित होनेवाले छन्दों का मनोवैज्ञानिक आधार है उर्मिला की विक्षिप्त मानसिक दशा। इस प्रकार अनेक स्थानों में छन्दों और मनोभावनाओं का सामंजस्य दिखाया जा सकता है।[३]

---

१. यशोधरा पृ० १७९—८०।

२. छन्दों के साथ हिन्दी भाषा की विश्लेषणात्मक प्रतिभा के सामंजस्य के विषय में देखिये लेखक-कृत 'महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास' पृ० २४-३२।

३. 'साकेत' की छन्द-योजना के सम्बन्ध में देखिये 'साकेतः एक अध्ययन' पृ० २४७—५३।

(ग) संगीतमयता और तुकान्तता:–'सिद्धराज' की विशेषता:—

पद्य का प्राण संगीत है। संगीत के उपकरण हैं—

(i) छन्दों का लय और ताल।

(ii) कोमल पदावली।

(iii) चरणों की आवृत्ति।

(iv) मध्यानुप्रास।

(v) अन्त्यानुप्रास अथवा तुक।[१]

गुप्तजी ने इन सभी उपकरणों का प्रचुर रूप में उपयोग किया है, और सामूहिक रूप से सफल। किन्तु कहीं कहीं उनकी पद-योजनाएँ ऐसी भी हो जाती हैं जिनसे यह भान होने लगता है मानों कुछ तुक-मिल शब्द पहले से ही कागज पर लिख लिये गए हों और उनको खामोखाह पंक्तियों में पेवन्द की तरह जड़ने की चेष्टा की गई हो। नगेन्द्र ने तो यहाँ तक कह डाला है कि "यह स्वीकृत सत्य है कि लचर भाषा के उदाहरण 'साकेत' के बराबर अन्यत्र मिलना कठिन है।......एक ओर तुक यदि उसकी भाषा की शक्ति है तो दूसरी ओर उसके लचरपन, भर्ती, अप्रचलित-दोष आदि का भी मूल कारण है। उसके वशीभूत होकर कवि स्थान स्थान पर अपने ऊंचे स्टैन्डर्ड से गिर गया है। 'साकेत'–जैसे काव्य में उपमोचितस्तनी, तत्ती, रत्ती, लक्खी, मल्ली, लल्ली आदि का प्रयोग तुक की ही कृपा का फल है"।[२] तुकों की वेतुकी व्यवस्थिति के एक दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

---

१. इस प्रसग में देखिये लेखक-रचित 'महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास' पृ० २४–३२।

२. साकेत' एक अध्ययन पृ० २४१–४२।

फिर याद पड़े टटके-टटके
ब्रजगोपवधू दधि के मटके
उनका कहना—हटके ! हटके !
उलझी-सुलझी लटके लटके
नटनागर आज कहाँ अटके ! [१]

उसी प्रकार 'यशोधरा' में जब हम एक के बाद एक—

चला गया रे, चला गया !
छला गया रे, छला गया !
दला गया रे, दला गया !
जला गया रे, जला गया !
फला गया रे, फला गया !
भला गया रे, भला गया ! [२]

—सुनते है, तो ऐसी प्रतीति होने लगती है मानों तुक की तरकारी बनाने के लिये, उसको—तला गया रे, तला गया !

'यशोधरा' में न जाने क्यों कवि की तुकों से इतनी अधिक तबीयत लग गई है। एक उदाहरण और—

बाहर से क्या जोड़ूँ जाड़ूँ
मैं अपना ही पल्ला झाड़ूँ
तब है, जब वे दाँत उखाड़ूँ

---

१. झंकार पृ० ५१।

२. यशोधरा पृ० २९ ३०।

रह, भवसागर नक्र !
घूम रहा है कैसा चक्र ! [१]

तुक और पदमैत्री की दृष्टि से 'सिद्धराज' कवि की कृतियों में मध्यम मणि के समान गौरव पायगा। यही उसका एक मात्र अतुकान्त काव्य है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि अतुकान्त होते हुए भी इसमें संगीत की धारा अनवरत रूप से प्रवाहित हो रही है। अन्त्यानुप्रास के नियन्त्रण से मुक्त होकर कवि की पदमैत्री कोमल-कोमल कुरंग-शावकों के समान किलोल करती हुई दीख पड़ती है– न नियम, न नियन्त्रण। कविता की सरिता में छन्दों के संगीत की स्वरलहरियाँ स्वच्छन्द रूप में अठखेलियाँ करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं।

यथा:—

है क्या अधिकार हम जैसे लुंजपुंजों का
बैठे मुंजराज के सुमंजु कीर्ति-कुंज में। [२]

—×—

गानधनी सोरठ का मानधनी राना था [३]

—×—

वासना नहीं थी वहाँ उज्ज्वल उपासना। [४]

—×—

खिल उठती है यथा लतिका वसंत में
हँस हिल्कोरे वायु लहरी के लेती है

---

१. यशोधरा पृ० ३।
२. सिद्धराज पृ० ३४।
३. ,, पृ० ५१।
४. ,, पृ० ७४।

घोल मधुगंन्ध डोल इधर उधर त्यों

बोल उठी बाला-"ओ दिवाली"! कह आली से [1] इत्यादि

ये उद्धरण केवल प्रतिनिधित्व की दृष्टि से दिये गये हैं। ऐसे पद-पद पर पड़े पाए जायँगे।

(घ) व्यंग्यात्मक हास्यशैली:– हास्य साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसके प्रयोग में भी कुशलता की सविशेष आवश्यकता होती है। हास्य के प्रयोग में लेखक को शिष्टता की परिधि से बाहर चले जाने का प्रलोभन मिलता चलता है, और भय यह होता है कि वह उसका शिकार न बन जाय। उदाहरणतः जी० पी० श्रीवास्तव के हास्य स्थल-स्थल पर ग्राम्यता-दोष दूषित होते हैं। 'दुबेजी' के संबन्ध में भी यह लाञ्छन कहीं कही लग सकता है। किन्तु गुप्तजी के हास्य मुख्यतः व्यंग्योक्तियों के रूपमें दीख पड़ते हैं; और ऐडिसन (Addison) अथवा डिकेन्स (Dickens) के समान उनका लक्ष्य होता है समाज-सुधार। अशिष्ट हास्य गुप्तजी की प्रकृति के विरुद्ध है। हँसोड़ प्रकृति के पात्रों का सृजन भी गुप्तजी की प्रतिभा के प्रतिकूल है। यों तो आमोदप्रमोदमय हास्य के गुलाबी छींटे अथवा रंगभरी पिचकारियाँ 'पंचवटी', 'यशोधरा' 'साकेत', 'सिद्धराज' आदि में जगह जगह पर मिलेंगी; पुस्तक के मुख्यांश में उनकी ओर संकेत भी किये गए हैं; किन्तु उनका उद्भावन यहाँ अभिप्रेत नहीं है। इस प्रसंग में हम केवल व्यंग्यात्मक हास्य के एकाध उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। यथाः–

भारतभारती से—

"हो आध सेर कवाब मुझको, एक सेर शराब हो

नूरेजहाँ की सल्तनत है, खूब हो कि खराब हो"

---

१. सिद्धराज–पृ० ६३।

कहना मुगल-सम्राट का यह ठीक है अब भी यहा
राजा रईसो को प्रजा की है भला परवा कहाँ?[१]

अथवा

क्या मर्द है हम वाहवा! मुख-नेत्र पीले पड़गए
तन सूख कर काँटा हुआ, सब अंग ढीले पड़ गए
मर्दानगी फिर भी हमारी देख लीजे कम नहीं—
ये भिनभिनाती मक्खियाँ क्या मारते है हम नहीं![२]

व्यंग्यात्मक हास्य की यह विशेषता है कि वह हमारे नग्न और कड़वे दुर्गुणों को शर्करा का आवरण देकर हमारे सामने पेश करता है; और उस रूप में उन्हें देखकर हमें क्षोभ नहीं होता। हम बिना नाक-भौं सिकोड़े, बिना आत्मसंमान पर जोर का धक्का दिये, उन्हें हृदयंगम करते हैं और अपने को सुधारने की चेष्टा करते हैं।

(ङ) कथोपकथन की कलात्मकता:—नगेन्द्र ने 'संवाद' की चर्चा करते हुए उसके तीन लक्ष्य बतलाए हैं।

(i) कथा की गति आगे बढ़ती है।

(ii) चरित्र की गहन गुत्थियाँ सुलझती हैं।

(iii) वर्णन में प्राण आते हैं।[3]

वस्तुतः ये तीनों लक्ष्य गुप्त जी के कथोपकथनों द्वारा सिद्ध होते हैं। 'पञ्चवटी' का राम-लक्ष्मण-सीता शूर्पणखा संवाद, 'साकेत' का चित्रकूट में राम-

---

१. भारतभारती पृ० १११।

२. „ पृ० १४४।

३. साकेत. एक अध्ययन पृ० १६८।

कैकयी-संवाद, 'यशोधरा' का माता-पुत्र-संवाद, 'जयद्रथवध' का द्रौपदी-कृष्ण-संवाद, 'सिद्धराज' का सिद्धराज-मदनवर्मा-संवाद आदि अनेकानेक ऐसे प्रसंग हैं जिनकी सजीवता असंदिग्ध है। गुप्तजी का विरला ही ऐसा काव्य होगा जिसमें कथोपकथनों की भरमार न हो। इस कारण हमें उनके काव्यों में नाटकों का मजा मिलता है। यहाँ हम इन कथोपकथनों की दो विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे :—

(अ) आकस्मिक पूर्व-संकेत (Dramatic Irony)।

(आ) कलात्मक आवृत्तियाँ।

(अ) आकस्मिक पूर्वसंकेत उन स्थलोंपर होते हैं जहाँ अनजान में कुछ ऐसे पद किसी पात्र के मुँह से निकल पड़ते हैं जो उन प्रसंगों में तो कोई व्यापक महत्त्व नहीं रखते किन्तु आगे आनेवाली घटनाएँ उनके महत्त्व को प्रस्फुटित करती हैं। इस प्रस्फुटन से ऐसे अद्भुत रस का संचार होता है जो उन पदों की कलात्मकता प्रतिपादित करता है। एक उदाहरण—

वरदान के लिए वचनबद्ध दशरथ विवशता के आवेश में कहते हैं—

चली है देख, तू क्या आज करने !

... ...

मरूँगा मैं तथा पछतायगी तू

यही फल अन्त में बस पायगी तू ![1]

जिस समय राजा ने ये वचन कहे उस समय न तो उन्हें और न कैकयी को यह धारणा हुई होगी कि वे सचमुच मर ही जायँगे। ये आवेश-वाक्य मात्र समझे गए होंगे। किन्तु भविष्य की घटनाओं ने यह साबित कर दिखाया

१. साकेत पृ० ६—१८।

कि आवेशवाक्य अक्षरशः भी फलीभूत हुए। अतः भविष्य की घटनाओं ने मानों सिंहावलोकन-न्याय से राजा के वाक्यों में साभिप्रायता का समावेश कर दिया; मानों भविष्य पीछे की ओर सरक कर वर्तमान के कलेवर में प्रविष्ट होगया। भविष्य-वर्त्तमान का यही कलात्मक संगमन हमारे हृदय में आश्चर्य का जनयिता होकर आनन्द का आधान करता है।

यशोधरा की निम्नोद्धृत पंक्तियाँ भी अज्ञातरूप में पूर्वसंकेतित घटना की ओर इशारा करती हैं—

आली! वही बात हुई, भय जिसका था मुझे
मानती हूँ उनको गहन-वन-गामी मैं।[1]—इत्यादि

(आ) कलात्मक आवृत्तियाँ।—कभी कभी कवि किसी प्रसंग अथवा संवाद का केन्द्रीय और मर्मस्पर्शी वाक्य इस प्रकार दुहराना आरंभ कर देता है कि जिससे ऐसी अनुभूति होने लगती है मानों कोई अज्ञात शक्ति हमारे हृदय के किसी एक तार को बराबर छेड़ कर उसे झंकृत-प्रतिझंकृत कर रही हो। 'यशोधरा' का—

ओ क्षणभंगुर भव रामराम!

अथवा 'साकेत' का—

भरत-से सुत पर भी सन्देह
बुलाया तक न उन्हें जो गेह![2]

—कलात्मक आवृति के सुन्दर नमूने हैं।

---

१. यशोधरा पृ० २०।

२. साकेत पृ० ३०-३१।

गुप्तजी :
राष्ट्रीय कवि अथवा जातीय (?)

५

(अ)

गुप्तजी को सामान्यतः 'राष्ट्र-कवि' या 'राष्ट्रीय-कवि' कहा गया है, किन्तु ऐसा कहना, हमारी समझ में, उचित भी है, अनुचित भी। उचित उस दशा में, जब हम 'राष्ट्रीयता' और 'जातीयता' इन दो भावनाओं में भेदभाव न रक्खें। सत्येन्द्र ने लिखा है कि "राष्ट्रीयता कवि का विशेष उद्देश्य रहा है; परन्तु,कवि संस्कृतिशून्य राष्ट्रीयता का पोषक नहीं।"[1] स्पष्टतः यहाँ 'संस्कृति' से मतलब है 'हिन्दू संस्कृति' से। और इस विशिष्ट अर्थ में हमें गुप्तजी को 'राष्ट्रीय कवि' घोषित करने में हिचक नहीं होनी चाहिये। किन्तु 'राष्ट्रीयता' अपने नूतनतम अर्थ में हिन्दू, मुसलिम दोनों संस्कृतियों की पोषक है, अथवा यों कहिये कि दोनों संस्कृतियों की संकुचितता से परे है। अतः यदि 'राष्ट्रीयता' की यह व्यापक भावना स्वीकृत कर ली जाती है, तो गुप्तजी की सीमित राष्ट्रीय भावना को 'जातीयता' की संज्ञा देनी होगी। और इस पहलू से

---

१ सत्येन्द्रः गुप्तजी की कला पृ० ८५।

हम उन्हें 'जातीय कवि' कहेंगे। राष्ट्ररूप में समग्र भारत की कल्पना हमारे नए युग की नई देन है। आज हम भारत की राष्ट्रीयता की समष्टि में हिन्दू और मुसलमान जातीयताओं की व्यष्टियों को विलीन करने पर कटिबद्ध हैं। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गुप्तजी के दृष्टिकोण का सामूहिक क्षितिज इतना विस्तृत नहीं हो सका है। गुप्तजी को हम नए युग का 'भूषण' भले ही कह लें; पर यह तो सर्वसम्मत है कि भूषण की जातीय भावना को हम सदियों पीछे छोड़ चुके हैं। माना कि 'गुरुकुल' के उपोद्घात में उन्हों ने यह लिखा है कि—

हिन्दू मुसलमान दोनो अब
छोड़ें वह विग्रह की नीति
प्रकट की गई है यह केवल
अपने वीरो के प्रति प्रीति।

किन्तु फिर भी इस एक वाक्य से उनके काव्यों की सामूहिक अन्तर्धारा का परिमार्जन नहीं हो सकता। क्योंकि उसी 'गुरुकुल' में कवि ने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है कि—

हिन्दू रहने का भी हमको
कर देना होता है हाय!
और हमारे ही बल से वे
करते है हम पर अन्याय।

'गुरुकुल' का मुख्य उद्देश्य ही है यवनों के विरुद्ध मोर्चाबंदी—

जाति धर्म की और देश की
लज्जा रखने के ही हेतु

यवनों के विरुद्ध गुरुकुल ने
फहराया है निज रणकेतु।

'भारत-भारती' में भी 'हतभाग्य हिन्दूजाति' ही कविता का केन्द्रीय बिन्दु है। यवनों के प्रति विद्वेषभावना का प्रखरतर रूप हम 'हिन्दू' में पाते हैं। 'हिन्दू' एक प्रचारवादी (Propagandist) काव्य है जिसमें 'उपयोगितावाद' की ओट में साम्प्रदायिकता के नारे बुलन्द किये गए हैं। उदाहरणतः 'फूट' शीर्षक कविता में कवि ने अरब से आए हुए 'तप्त रेणु' के तूफान का वर्णन करते हुए उसे रोकने के लिये भारतवर्ष को श्रेय दिया है।

'जातीयता' शीर्षक कविता पढ़ने से भी हमें यह विदित हो जायगा कि गुप्तजी का दृष्टिमंडल वर्त्तमान राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से कितना संकुचित है। उनका 'हिन्दुस्तान' हिन्दुओं का ही स्थान है। अतएव कई प्रसंगों में उन्होंने 'हिन्दू-हिन्दुस्तान' का समान आह्वान करते हुए 'हिन्दूपन की टेक' रखने के लिए हमें उत्तेजित किया है। 'प्रतिकार'-वाली कविता में तो आघात के प्रति प्रतिघात देने तक के लिये कवि ने हमें ललकारा है। उसका मत है कि मुसलमान और क्रिस्तान भले ही हिन्दू हो जायँ, लेकिन हिन्दुओं को मुसलमान और क्रिस्तान नहीं होना चाहिये।

जो पर हैं अपने हो जायँ
न कि उल्टे अपने खो जायँ

—(जाति-बहिष्कार)।

'मुसलमानों के प्रति' तो स्पष्ट धमकियाँ भी दी गई हैं कि शायद—

देख तुम्हारी करनी नित्य
कर न उठें हम भी वे कृत्य।

उन्हें यह सुझाया गया है कि उनकी धमनियों में भी 'हिन्दू-रक्त' ही प्रवाहित हो रहा है, केवल धर्म विपर्यय ने उनकी आँखों पर परदा डाल रक्खा है।

तात्पर्य यह कि गुप्तजी की नजर में हिन्दुस्तान हिन्दुओं ही के लिये है—

हम सब हैं हिन्दू-सन्तान
जिये हमारा हिन्दुस्तान !

'हिन्दू' की पंक्ति-पंक्ति में शिष्ट विद्वेष की भावना परिलक्षित होती है।

अतः जिस समय हम ऐसी पंक्तियाँ पाते हैं जिन में हिन्दू-मुसलमानों में प्रीतिभाव की चर्चा की गई है उस समय हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह भावना एक सुलहनामे का परिणाम है और इसके साथ कवि के समष्टिगत काव्यमय जीवन का अनिवार्य संबन्ध नही है। यह ठीक है कि गुप्तजी हिन्दू-मुस्लिम दंगे के पक्ष में नहीं हैं, कुछ मुसलमान उनके अभिन्न मित्र भी हैं। किन्तु फिर भी वे एक ऐसे 'स्वराज्य' की कल्पना करते हैं जिसमें हिन्दुस्तान हिन्दुओं का होकर रहे और हिन्दू हिन्दुस्तान के हो कर रहें। यह कल्पना 'जातीयता' की भावना से सुसंगत भले ही हो, किन्तु उस राष्ट्रीयता का प्रतीक कभी नहीं बन सकती है जिसे कांग्रेस ने आदर्श के रूप में हमारे और हमारे देश के सामने प्रस्तुत किया है। गुप्तजी का 'हिन्दुस्तान' कुछ कुछ जिन्ना के 'पाकिस्तान' की टक्कर का होगा।

(आ)

यदि हिन्दी साहित्य के क्रम-विकास में हम राष्ट्रीय-भावना के क्रम-विकास का भी इतिहास देखना चाहें तो हमें प्रधान रूप में तीन स्तर ध्यान में आवेंगे। वीर-साहित्य के 'प्रथम उत्थान' में राष्ट्रीय भावना का भी प्रथम स्तर प्रतिविम्बित है। इस 'प्रथम उत्थान' का प्रतिनिधित्व करनेवाला साहित्य 'पृथ्वीराज रासो' 'वीसलदेव रासो' आदि है। इसके अध्ययन से हम उस समय के राजाओं और उनके द्वारा अनुप्राणित काव्यों की निम्न-लिखित विशेषताएँ पाते हैं—

(क) भिन्न भिन्न राजाओं में परस्पर कलह ;

(ख) विलासिता के आधिक्य के कारण सच्चे वीररस का अभाव और वीररसाभास का आविर्भाव ;

(ग) कवियों के राजाश्रित होने के कारण उनमें स्वतंत्र मनोवृत्ति का अभाव, और अपने आश्रयदाताओं की विरुदावली को 'डींगल' भाषा में व्यक्त करने की दुर्वासना के कारण ऐतिहासिकता की बलि ;

(घ) भारत की राष्ट्र के रूप में कल्पना तो दूर रही; हिन्दू-राज्य के रूप में कल्पना का भी अभाव; क्यों कि सभी अपनी अपनी क्षुद्र स्वार्थ-लिप्सा की ही संतुष्टि में व्यस्त थे।

इस अन्तिम विशेषता का परिणाम यह हुआ कि पृथ्वीराज और जय-चन्द्र-जो दोनों मिलकर अपने देश की ढहती हुई इमारत को धराशायी होने से बचा सकते थे- आपस में ही लड़ मरे; और, इतिहास साक्षी है कि, उन्होंने अपने राष्ट्र को एक इतर सत्ता को निमंत्रण देकर सौंप दिया। पृथ्वीराज की भावना भी वीर-भावना कही जा सकती है, किन्तु न तो इसे

जातीयता की संज्ञा दी जा सकती है न राष्ट्रीयता की। भले ही इसे व्यक्तीयता का नाम दे लें।

वीरभावना के द्वितीय उत्थान का निदर्शन हम पाते हैं औरंगजेबी जमाने में, जिस समय मुगल धर्मान्धता ने प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दुओं की नसों में वीरता की बिजली संचारित कर दी। "पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह, महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी और बुन्देलखंड में वीर छत्रसाल इस जागर्ति का मूर्त्तिमान रूप धारण कर भारत के रंगमंच पर रणचंडी का नृत्य दिखाने लगे"। किन्तु हिन्दी साहित्य की दृष्टि से शिवाजी के चरित्रोन्नायक भूषण का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। "क्योंकि वास्तव में इनकी कविता के नायक एक प्रकार से न शिवाजी हैं न छत्रसाल, न रावबुद्ध हैं न अवधूत सिंह, न शंभाजी हैं न साहूजी; इनके सच्चे नायक हैं हिन्दू। अन्य नायक 'हिन्दुआन को अधार' 'ढाल हिन्दुआन की' इत्यादि हैं। मतलब यह कि भूषण की कविता हिन्दूमय हो रही है"।

दाढ़ी के रखैयन की दाढ़ी सी रहत छाती
बाढ़ी मरजाद जस-हद्द हिंदुआने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की॥

(भूषण-ग्रन्थावली)।

—इन-जैसी कविताओं में हम हिन्दू जातीयता का उग्र रूप पाते हैं, और यही है राष्ट्रीयता के क्रम विकास का दूसरा स्तर। तात्पर्य यह कि हमारी राष्ट्रीय भावना व्यक्तीयता से ऊँची उठकर जातीयता में परिणत हुई।

किन्तु आज वह जातीयता भी भारतीयता में रूपान्तरित हो चुकी है।

गुप्तजी की कल्पना कोकिला ने भी कहीं-कहीं ऐसी उड़ान ली है जिससे वे इस उच्चतर स्तर तक पहुँच सकें; और निम्नलिखित पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं:--

कोई काफिर कोई म्लेच्छ
हो तो होता रहे यथेच्छ
हिन्दू-मुसलमान की प्रीति
मेटे मातृभूमि की भीति

अथवा—

मातृभूमि का नाता मान
हैं दोनों के स्वार्थ समान।

(मुसलमानों के प्रति)।

किन्तु बात असल यह है कि ये उड़ानें क्षणिक हैं; उस उड़ान तक जाते जाते उनकी कल्पना के पंख थर्राने-से लगते हैं; और फिर वही साम्प्रदायिकता, वही जातीय दृष्टिकोण! गुप्तजी के काव्यों के सामूहिक अध्ययन [1] के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि वे प्रायशः जातीयता के स्तर से ऊँचे नहीं उठ सके हैं। हाल में 'जीवन-साहित्य' के सितम्बर १९४१ वाले अंक में प्रभाकर माचवे ने 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त' शीर्षक लेख में गुप्तजी राष्ट्रीय कवि हैं या जातीय या प्रान्तीय—इस चर्चा को 'अज्ञानमूलक' कहकर टालना चाहा है, फिर भी न जाने क्यों अज्ञानतः इस 'अज्ञान मूलक' चर्चा में शामिल हो गए हैं। वे लिखते हैं—" 'जातीय' उन्हें कहना अन्याय होगा। हिन्दू वीरों के और नायकों के चरित उन्होंने अधिक गाए हैं; मगर

१. 'सामूहिक' शब्द आवश्यक है, क्यों कि जहाँ तहाँ व्यापक राष्ट्रीय भावना भी लक्षित होती है।

ईसा पर भी कविताएँ लिखी हैं; हसन-हुसैन पर भी शायद लिख रहे हैं; और उमर खय्याम का भी अनुवाद किया है। और मुन्शी अजमेरी आपके कैसे अभिन्न थे यह कौन नहीं जानता ?" माचवेजी की व्याख्या से हमारी पूर्ण सहमति है, किन्तु उनके निष्कर्ष से नहीं। यों तो हम भी उन्हें सामान्यत· राष्ट्रीय कवि कहने को तैयार हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि---क्या नवयुग साहित्य के लिये 'राष्ट्रीयता' और 'जातीयता' ये दो भावनाएँ हैं या नहीं ? यदि हैं, तो फिर इस द्वैत की दृष्टि से हम उन्हें क्या कहेंगे---यह विचारना है। यह भी निरी मूर्खता होगी यदि कोई यह कहे कि गुप्तजी की कविताओं में राष्ट्रीय भावनाएँ हैं ही नही। हैं, और प्रचुर मात्रा में। यही कारण है कि हमने सामूहिक दृष्टि और सामूहिक अध्ययन पर बल दिया है। गुप्तजी की गिरफ्तारी से भी हम अपनी इस निष्पक्ष आलोचना को संशोधित करने की बाध्यता नहीं देखते। आंशिक दृष्टि से राष्ट्रीयता का अस्तित्व कौन नहीं स्वीकृत करेगा ? कवि की एक लाइन अथवा कोई एक संशयजनक प्रगति उसे सीकचों के अन्दर पिञ्जरित करने को यथेष्ट है; पर यह अनिवार्य नही कि उसकी गिरफ्तारी का उसकी सामूहिक काव्यभावना के साथ अन्योन्याश्रय संबन्ध स्थापित हो जाय। 'भारत-भारती' के कुछ दिनों तक 'निषिद्ध साहित्य' (proscribed) होने में कौन-सी मनोरंजक परिस्थिति कारण बनी थी इसका परिचय हिन्दी संसार को मिल चुका है। अतः कवि की गिरफ्तारी कोई ऐसी आश्चर्यकारी घटना नही है जो एकबारगी उसकी रचनाओं पर उग्र 'राष्ट्रीयता' की मुहर लगा दे।

यदि गुप्तजी चाहते तो जिस तरह प्राचीन काल में जायसी ने, और नवयुग में प्रेमचन्द ने, अपने काव्यों और उपन्यासों में हिन्दू और मुसलमानों

के सामान्य हृदयपक्ष को प्राधान्य दिया था और है, उसी तरह ये भी एकांगी जातीयता से ऊपर उठ सकते थे। किन्तु हमारे कवि को अपने खोए हुए अतीत के हीरे-जवाहिर की सुखद स्मृतियों से फुर्सत मिले तब तो! मैथिली-शरण गुप्त में वह क्षमता नहीं कि वे वर्त्तमान युग का काव्य-कलेवर खड़ा करें। अतीत के अस्थिपंजर में जान फूँकना और बात है, वर्त्तमान का जीवित चित्र अंकित करना और! यहाँ तो अस्थि-पंजर का भी निर्माण कीजिये और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा भी कीजिये। अतः यदि साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से यह कहा गया कि-गुप्तजी का युग बीत गया! तो इस उक्ति की आंशिक सत्यता तो माननी ही होगी।

इसके अतिरिक्त एक और कारण है कि हम गुप्तजी को राष्ट्रीय कवि नहीं कह सकते। वह यह कि अब तक का हमारा पिछला साहित्य राज परिवार में पला है। रामायण, महाभारत, रघुवंश, शाकुंतल-सब जगह राजा और रानियों के साथ ही हमारे कवियों की प्रतिभा अनुचरी बनी रही; मानो जीवन का प्रतिनिधित्व राजघराने में ही मिलता हो! किन्तु आज हमारी मनोवृत्ति में बहुत बड़ी क्रान्ति हो चुकी है। हम अपने जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब राजे-महाराजे अथवा धन-कुबेरों या रईसों के महलों में नहीं पाते हैं, बल्कि पाते हैं उसे गरीब किसानों और दीन-हीन मजदूरों की टूटी-फूटी झोपड़ियों में। आज शायद भूख से कराहती हुई हड्डियों के बीच से झाँकती हुई ज्वालामुखी आँखों से निकले हुए शोले बड़े से बड़े राजप्रासादों को भस्म कर देंगे। किसान और मजदूर हमारे काव्य के उपेक्षितों में से हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने उर्मिला आदि काव्य की उपेक्षिताओं पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। गुप्तजी ने इसे अनुभव किया और 'यशोधरा' तथा 'साकेत' का सृजन

किया। किन्तु आवश्यकता है अब ऐसे कवियों की जो उपेक्षिताओं के साथ साथ उपेक्षितों की भी सुधि लें। 'किसान' के समकक्ष और काव्यों का निर्माण करकें गुप्तजी ने हमारा बड़ा उपकार किया होता !

गुप्तजी की अत्यधिक धर्मप्रवणता भी संभवतः उनकी उदार राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधक सिद्ध हुई है। नवीन क्रान्तियुग के कतिपय राष्ट्रवादियों ने धर्म और भगवान दोनों का बहिष्कार तक करने की ठान ली है। लेनिन (Lenin) ने धर्म को मनुष्यों का व्यक्तिगत मत मात्र (Opiate of the people) माना है। और कमाल पाशा ने धर्म को ज्वालामुखी की वह ठंढी लावा माना है जो राष्ट्र की ज्वलन्त आत्मा को ढक कर उसे कुण्ठित किये रहती है (the cold, clogging lava that holds down below its crust the flaming soul of the nation)। मानते हैं कि धर्म के विरुद्ध इस प्रकार की विद्वेषभावना अनावश्यक है; किन्तु अनावश्यक है उतनी ही धर्म की यत्र-तत्र-सर्वत्र 'दाल भात में मूसरचंद' के समान अव्याहत गति। गुप्तजी की कविता में भी वह अनधिकार चेष्टा कर बैठा है। भगवान की पौरुषेय कल्पना भी भगवान को सीमित बनाना है और गुप्तजी की भावुकता का भगवान पौरुषेय है-अवतारी है। 'साकेत' में स्पष्टरूप में कविने लिखा है कि—

हो गया निर्गुण सगुण-साकार है
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।[१]

---

१ साकेत-पृ० २।

इसके अतिरिक्त इसी ग्रंथ के एक मुखपृष्ठ पर तो यह बात प्रश्न रूप में छेड़ी गई है कि--

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?[1]

तथा 'झंकार' में कवि ने भगवान को 'कर्त्तुमकर्तुमन्यथाकर्त्तुं'[2] स्वतंत्र कल्पित किया है। उसकी समझ में भारत की वर्त्तमान अधोगति भी मानों भगवान का अभिशाप है। अतः हमें उसकी कृपादृष्टि के लिये चातक के समान उत्सुक रहना चाहिये। एक न एक दिन अभिशाप की अवधि आप ही पूरी होगी और वह हमारी सुधि लेगा--

प्रभु पर है भारत का भार
हुए जहाँ उनके अवतार
होगा जो कुछ है भवितव्य
पालो तुम अपना कर्त्तव्य ॥[3]

जहाँ भवितव्यता पर इतना भरोसा होगा वहाँ क्रान्ति की चिनगारियाँ आसानी से नहीं उड़ सकती।

'हिन्दू' की भूमिका में कवि ने अपने को सान्त्वना देते हुए लिखा है कि 'उसकी तुच्छ तुकबंदी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जाति-गंगा में ही एक डुबकी लगाकर 'हर गंगा' गा सके तो वह इतने से ही कृतकृत्य

---

१ साकेत-मुख पृष्ठ (सूची के बाद)।

२ झंकार-पृष्ठ ५९।

३ हिन्दू - पृष्ठ९५।

हो जायगा"। हमारी सम्मति में 'हिन्दू' ही क्यों और मुक्तकों में भी उसे कृतकृत्यता हासिल हुई है और उसने 'हरगंगा' गाया भी है, किन्तु जाति-गंगा में डुबकियाँ लगाकर, न कि राष्ट्र-गंगा में। यदि राष्ट्र-गंगा में एकाध डुबकियाँ लगीं भी, तो छिछले पानी में।

गुप्तजी
का
समन्वय-वाद

६

गुप्तजी भारत के सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय गगनप्रान्तर में अतीत और वर्त्तमान का स्वर्णिम सम्मिलन देखना चाहते हैं। भूत और वर्त्तमान— दोनों की नींव पर भविष्य के भवन की भित्ति खड़ी करना वे अपना लक्ष्य समझते है। जिस प्रकार भारतेन्दु ने 'अंधेर नगरी' द्वारा राष्ट्रनिर्माण का, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' द्वारा धर्म-सुधार का, और 'नीलदेवी' 'भारतदुर्दशा' आदि द्वारा समाज-संगठन का मार्गनिदर्शन किया, उसी प्रकार गुप्तजी ने 'भारत-भारती' 'हिन्दू' 'किसान' 'अनघ' 'स्वदेशसंगीत' आदि रचनाओं द्वारा हमें अपने राष्ट्र, जाति और समाज के कायाकल्प की ओर आमंत्रित किया है। दोनों कवियों का दृष्टिकोण भी समन्वयवादी है। उदाहरणतः 'नीलदेवी' में भारतेन्दु ने भारत-रमणी का जो आदर्श संकेतित किया है वह न 'ग्राम्या' का है, न 'अत्याधुनिका' का। इस नाटिका की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

"जब मुझे अंगरेजी रमणी लोग मेद-संचित केशराशि, कृत्रिम कुन्तल-जूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविधवर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ, प्रसन्न वदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं, तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है, और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसीको न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें, किन्तु और बातों में जिस भाँति अंगरेजी स्त्रियाँ स्वाधीन होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्यजीवन को व्यर्थ गृह-दास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृहदेवता भी वर्त्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है।" गुप्तजी भी स्त्रियों की दीन-हीन दशा पर आँसू बहाते हैं और इस बात पर तरस खाते हैं कि हमने उन्हें 'पशुवृत्ति का साधन' मात्र बना डाला है। स्वयं तो पुरुष उच्चशिक्षा प्राप्त हैं, उनकी नारियाँ 'अशिक्षारूपिणी' बन रही हैं। स्वयं तो पापलिप्त हैं, पर स्त्रियों को सतीत्व के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ देखना चाहते हैं। मानों--

निज दक्षिणांग पुरीष से रखते सदा हम लिप्त हैं
वामांग में चन्दन चढाना चाहते, विक्षिप्त हैं।[1]

---

१. देखिये भारत भारती पृ० १३५-३८।

सामूहिक रूप से भी गुप्तजी अपने दृष्टिकोण में दकियानूस नहीं हैं। वे समाजसुधार के पक्षपाती तो अवश्य हैं, पर समाज की नैया को अपनी प्राचीन संस्कृति के कूल से बिलकुल विच्छिन्न भी नहीं देखना चाहते। 'जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी कीजै'-वाले सिद्धान्त को वे मान्य समझते हैं।

हमको समय को देखकर ही नित्य चलना चाहिये
बदले हवा जिस तरह हमको भी बदलना चाहिये
विपरीत विश्व-प्रवाह के निज नाव जा सकती नहीं
अब पूर्व की बातें सभी प्रस्ताव पा सकती नहीं।[1]

न तो हमें प्राचीनता की लकीर ही पीटते चलना चाहिये, और न सदा नवीनता का ही सुर अलापना चाहिये।

प्राचीन हों कि नवीन छोड़ो रूढ़ियाँ जो हों बुरी
बन कर विवेकी तुम दिखाओ हंस-जैसी चातुरी
प्राचीन बातें ही भली है, यह विचार अलीक है
जैसी अवस्था हो जहाँ, वैसी व्यवस्था ठीक है।[2]

वर्तमान विज्ञानवाद के चकाचौंध प्रकाश में भी निरी प्राचीनता की कन्दरा में सोए रहना कवि को इष्ट नहीं है। वह खुले दिल से 'नवयुग' का स्वागत करते हुए गाता है--

तू सु-नवीन
मै प्राचीन
दोनों का सम्मिलन प्रौढता प्रकट करे स्वाधीन ![3]

---

१. भारत-भारती पृ० १६० ।
२. ,, पृ० १६० ।
३. स्वदेश सगीत पृ० १०२ ।

—इसी 'सम्मिलन' को हमने 'समन्वयवाद' का शीर्षक दिया है। नगेन्द्र के शब्दों में कवि की कविता में प्राचीन का विश्वास और नवीन का विद्रोह दोनों समन्वित होकर एक हो गए हैं।[1]

---

१ साकेत: एक अध्ययन पृ० २६२।

गुप्तजी

का

प्रकृति-पर्यवेक्षण

७

प्रकृति से तात्पर्य यहाँ मानवेतर प्रकृति से है न कि मानव। "जब हिन्दी के वर्त्तमान युग का प्रवर्त्तन हुआ तो कई क्षेत्रों में क्रान्ति हुई। भारतेन्दु ने मानव प्रकृति के अन्तःसौन्दर्य के विश्लेषण और विशदीकरण की ओर भी अपनी प्रतिभा को प्रेरित किया। किन्तु मानवेतर प्रकृति की नैसर्गिक रूपराशि से वे भी उदासीन ही रहे। उनके जहाँ तहाँ गंगा, यमुनादि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों से पता चलता है कि उनमें भी प्रकृति की 'नग्नमाधुरी' के प्रति उतना आकर्षण न था, जितना ऊँची अट्टालिकाओं अथवा मनोहर बने-सजे घाट-बाटों के प्रति। वे ही पुरानी गतानुगतिक निर्जीव उपमाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ! मानवेतर प्रकृति के जीवित, जाग्रत और स्पन्दित रुप की सौन्दर्यानुभूति से वे वञ्चित ही रह गए।" [1] किन्तु भारतेन्दु मंडल में ही ठाकुर

---

१. लेखक के 'महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास' से उद्धृत। पृ० ९०-९१।

जगमोहन सिह ऐसे हुए जिन्होंने 'विविध भावमयी प्रकृति के रूपमाधुर्य' की सच्ची अनुभूति हासिल की। "बाबू हरिश्चंद्र, पंडित प्रतापनारायण आदि कवियों और लेखकों की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानवक्षेत्र तक ही थी, प्रकृति के अपर क्षेत्रों तक नही। पर ठाकुर जगमोहन सिंहजी ने नरक्षेत्र के सौन्दर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेल में देखा है"।[१] फिर तो परम्परा ही चल पड़ी और प्रकृति के जीवित चित्र की ओर कवियों का ध्यान गया। पश्चिम के वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) आदि तथा यहाँ के रवीन्द्र आदि की प्रकृतिपरक कविताओं का भी प्रतिफलन पड़ा। नवयुगीन छायावादी काव्य को छोड़ दिया जाय, तो प्रकृतिपर्यवेक्षी कवियों में हमें तीन नाम अग्रणी प्रतीत होंगे--हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त। प्रस्तुत परिच्छेद में हम केवल गुप्तजी के प्रकृतिचित्रण की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

संक्षेप में वे ये हैं—

(१) दृश्य विधान की दृष्टि से प्रकृति का कलात्मक निरुद्देश्य वर्णन।

यथा-- 'साकेत' से:-

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
किन्तु सुरसरिता कहाँ, सरयू कहाँ?
....
आस पास लगी वहाँ फुलवारियाँ
हँस रही हैं खिल खिलाकर क्यारियाँ।[२]

---

१. रामचद्र शुक्ल हि. सा. का इतिहास (नवीन सस्करण) पृ० ५६५-६६।
२. साकेत पृ० ५-६।

अथवा— 'सिद्धराज' से:—

संध्या हो रही है। नील नभ में, शरद के
शुभ्र घन तुल्य, हरे वनमें, शिविर के
स्वर्ण के कलश पर अस्तंगत भानु का
अरुण प्रकाश पड झलक रहा है यों
छलक रहा है भरा भीतर का वर्ण ज्यों।[1]

(२) मानव-जीवन के लिये उपदेशग्रहण के उद्देश्य से प्रकृति का उपयोग। यथा— 'वैतालिक' का उषावर्णन।

किरणों की मार्जनी चली,
हुई सूर्य की स्वच्छ गली
बन्द तुम्हारा ही पथ क्यों?
रुद्ध विशुद्ध मनोरथ क्यों?[2]

(३) मानव हृदय और मानवेतर हृदय में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का निदर्शन। यथा— 'यशोधरा' से :—

सखि! वसन्त-से कहाँ गए वे
मैं ऊष्मा-सी यहाँ रही।
मैंने ही क्या सही, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।[3]

(४) प्रकृति को अप्रस्तुत बनाकर उसके द्वारा प्रस्तुत का अलंकरण।

---

१. सिद्धराज पृ० २।
२. वैतालिक पृ० ११।
३. यशोधरा पृ० ५०।

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार यही है। यथा–'जयद्रथवध' से :—

विषधर बनेगा रोष मेरा खल तुझे पाताल में
दावाग्नि होगा विपिन में, बाडव जलधि-जल-जाल में।
जो व्योम में तू जायगा, तो वज्र वह बन जायगा
चाहे जहाँ जाकर रहे जीवित न तू रह जायगा।[1]

जहाँ 'प्रतीप' आदि अलंकारों में मानवेतर प्रकृति उपमेय बना दी जाती है, वहाँ भी वस्तुतः वह अप्रस्तुत ही रहती है।

(५) कल्पनोत्कर्ष द्वारा अथवा भावुकता के आवेश में मानवेतर प्रकृति के साथ ऐसा बर्ताव करना मानों वह सखी-सहेली बन जाय। यथा–'साकेत' से:—

अरी सुरभि ! जा लौट जा, अपने अङ्ग सहेज
तू है फूलों मे पली, यह काटो की सेज।[2]

अथवा—

चातकि ! तुझ को आजही हुआ भाव का भान।
हा! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान![3]

प्रकृति के साथ ऐसी तादात्म्यभावना हमारे नए युग की विभूति है, और है विभूति गुप्तजी के प्रकृतिचित्रण की भी।

---

१. जयद्रथवध पृ० ४०।

२. साकेत पृ० २६६।

३. ,, पृ० २७४।

करुण और कारुण्य

८

भरत मुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' में (जिसका समय ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी के आस पास माना जाता है) अपने पूर्वाचार्य द्रुहिण के प्रमाण पर आठ रसों का उल्लेख किया है—

> शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः ।
>
> बीभत्साऽद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥[1]

वे है—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत इन रसों के स्थायी भावों—अर्थात् अन्तर्धारा के रूप में सर्वदा विद्यमान रहने वाले मनोभावों—का भी उल्लेख भरत ने किया है। वे ये हैं:—

रस	स्थायी भाव
शृंगार	रति
हास्य	हास

१. नाट्यशास्त्र—अध्याय ६ । श्लोक १५ ।

रस	स्थायी भाव
करुण	शोक
रौद्र	क्रोध
वीर	उत्साह
भयानक	भय
वीभत्स	जुगुप्सा (घृणा)
अद्भुत	विस्मय ।

फिर शृंगार के दो भेद माने हैं-संभोग; विप्रलम्भ। संभोग शृंगार के अनुभाव हैं-नयनचातुर्य, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष-संचार, ललित-मधुर अंगहार और वाक्यादि।[1] विप्रलंभ-शृंगार के अनुभाव हैं-निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विव्वोक, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरणादि।[2] वैसे तो विप्रलंभ शृंगार (वियोग) को शृंगार की कोटि में गिना दिया, किन्तु अनुभाव ऐसे गिनाने पड़े जिनका अन्य रसों से भी संबन्ध है, विशेषतः करुण से। अत. उन्हें एक जटिल समस्या का अनुभव हुआ। फिर भी समाधान करना ही था। अतः उन्होंने प्रश्न किया—

'हॉ, तो यदि शृंगार रति से उत्पन्न है, तो फिर इसके ऐसे भाव क्यों होते हैं जिनका आश्रय करुण रस है ?'[3]

---

१. नाट्यशास्त्र— अ० ६ । श्लो० ४५ के बाद का गद्यभाग।

२. „ — „ ६ । „ ४५ „ „ ।

३. अत्राह—यद्येव रतिप्रभव. शृंगार कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ?

स्वयं उत्तर दिया—

'यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि शृंगार संयोगात्मक भी है वियोगात्मक भी।'[1] जब इस तरह बात टालने से संतुष्टि नहीं हुई तो व्याख्या की—

'करुण के कारण शाप, क्लेश, विनिपात, इष्टजनवियोग, विभवनाश, वध, बन्धन आदि हैं; इसमें औत्सुक्य और चिन्ता प्रधान हैं; यह निरपेक्ष है। किन्तु विप्रलम्भ शृंगार सापेक्ष है। इस प्रकार करुण और विप्रलम्भ ये दोनों एक दूसरे से पृथक् हैं'।[2]

उपर्युद्धृत प्रश्नोत्तरी से यह स्पष्ट मालूम होता है हमारे आचार्यों ने एक वर्गीकरण को ध्रुवसत्य मानकर फिर किसी न किसी प्रकार एक को दूसरे से विभिन्न प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। यदि करुण में भी इष्टजनविप्रयोग शामिल है, तो फिर विप्रलम्भशृंगार और करुण के बीच कोई भी रेखा खींचना कठिन है; क्योंकि विप्रलम्भ में भी इष्टजन (प्रेमपात्र) का ही वियोग होता है।

भरत के उत्तरवर्ती आचार्यों ने रसों की संख्या में एक और—शान्तरस—जोड़कर, और कुछ ने वात्सल्य भी समाविष्ट कर, उसे नव और क्रमशः दस किया; किन्तु विप्रलंभ और करुण की समस्या उलझी ही रह गई। फिर ऐसी भी परिस्थितियाँ आईं जिनसे बाध्य होकर

---

१ अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितः सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृंगार इति।

२ करुणस्तु शापक्लेशविनिपातेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धनसमुत्थो निरपेक्षभावः औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः। सापेक्षभावः विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणः अन्यश्च विप्रलम्भः।

—श्लोक ४५ के बाद का गद्यभाग।

विप्रलम्भ के एक उपभेद की कल्पना की गई जिसका नाम करुण-विप्रलम्भ रक्खा गया। यह रस उस समय संचारित होता है जिस समय दो तरुण प्रेमियों में से एक की मृत्यु हो जाय और दूसरा प्रेम-विह्वल होकर तड़पने लगे।[१] यदि यह आलोचना स्वीकृत कर ली जाती है तो भरत मुनि ने जो 'सापेक्षत्व' को विप्रलम्भ की विशेषता बताई थी वह भी नष्ट हो जाती है; और विशेष परिस्थितियों में करुण और विप्रलम्भ में कोई भी अन्तर नहीं रह जाता।

हमारा निजी विचार है कि विप्रलम्भशृंगार शृंगार है ही नहीं। और यदि है भी तो उसी अंश तक जिस अंश तक पत्रव्यवहार, प्रतीक्षा आदि द्वारा रति की आग में इंधन पड़ती रहे। किन्तु जब कभी विप्रलम्भ तीव्र हो जायगा, हमारी मनोदशा लगभग वैसी ही हो जायगी जैसी करुण में। अतः करुणरस और विप्रलम्भशृंगार-रस की सूक्ष्म विवेचना की जटिलता में न पड़कर हमें निर्द्वन्द्व रूप से 'करुण' शब्द का प्रयोग ऐसी परिस्थितियों में करना चाहिये जिनमें दो प्रेमी परस्पर वियुक्त होकर शोकविह्वल हो रहे हैं। यदि शोक को करुण का स्थायी माना गया है, और पतिपत्नी-वियोग में भी शोक का उद्भव होता है तो फिर वैसी दशा में वहाँ करुणरस का अस्तित्व क्यों न माना जाय?

इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए हमने 'करुण' अथवा 'कारुण्य' का उसके व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है; न कि शास्त्रीय-प्रमाद-वश। हमारे

---

१ यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरे पुनरलभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुण विप्रलम्भाख्य ॥
—साहित्यदर्पण। परिच्छेद ३। श्लोक २०६।

मित्र श्री प्रोफेसर विश्वनाथप्रसाद ने पुस्तक के नामकरण में 'करुण' के बदले 'कारुण्य' के प्रयोग का इस दृष्टि से अभिनन्दन किया था कि 'कारुण्य' व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है और 'करुण' शास्त्रीय संकुचित अर्थ में। मुख्यांश में यह आलोचना उपयुक्त है, किन्तु सर्वत्र इस सूक्ष्म भेद का निबाहना न तो संभव है, न अपेक्ष्य। अतः 'करुणा', 'करुण', 'कारुण्य'–इन तीनों का यथावसर यथोचित प्रयोग किया गया है,–नैसर्गिक मनोभावों को ध्यान में रखकर न कि शास्त्रीय टंटे को।

'करुण' का यह व्यापक प्रयोग संस्कृत के महान् कवि भवभूति को भी इष्ट था। तभी तो उन्होंने कहा—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
—उत्तररामचरितम्।

महाकवि 'हरिऔध' ने भी 'वैदेहीवनवास' के वक्तव्य में 'करुणरस' पर विवेचना की है। उन्होंने उस की व्यापक परिभाषा यों की है—

"करुणरस द्रवीभूत हृदय का वह सरस प्रवाह है, जिससे सहृदयता-क्यारी सिञ्चित, मानवता-फुलवारी विकसित और लोकहित का हरा भरा उद्यान सुसज्जित होता है।" साथ ही साथ यह भी दिखलाया है कि "शृंगार रस पर करुणरस का कितना अधिकार है।" बल्कि शृंगाररस निखरता ही तब है, जब उसमें करुण का पुट गहरा हो। गुप्तजी की कविताओं में भी 'करुण', 'करुणा' अथवा 'करुणरस' के जो प्रयोग मिलते हैं, उनसे उनके व्यापक अर्थ का ही भाव होता है।

यथा— छिन्न भी है भिन्न भी है हाय !
क्यों न रोवे लेखनी निरुपाय ?
क्यो न भर आँसू बहावे नित्य ?
सींच करुणे, सरस रख साहित्य ! [१]

पुनश्च—

करुणे ! क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति है जो उसको भव-भूति क्यों कहे कोई ?'[२]

अन्यत्र तो "रुदन-रस" नाम का एक रस ही कल्पित कर लिया है कवि ने—

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से
वर्ण-व्रणं सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के ?
क्यों न बनते कविजनो के ताम्रपत्र सुवर्ण के ? [3]

'यशोधरा' में भी यशोधरा ने अऋजु संकेत से अपनी विरहगाथा को 'करुणाभरी कहानी'[४] कहा है। इन उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि--

(I) कवि को 'करुण' अथवा 'कारुण्य' का व्यापक अर्थ ही अभिप्रेत है, जिनमें वियोगगाथाएँ भी उसमें आजायँ;

(II) कारुण्य-धारा कवि के काव्य की प्रधान धारा है। [५]

---

१. साकेत पृ० १६५।
२. ,, पृ० २५०।
३. साकेत पृ० २५०।
४. यशोधरा पृ० ८१।
५. इस सवन्ध में देखिये—लेखककृत 'महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास', अध्याय ७ शीर्षक 'कारुण्य-रसिक हरिऔधजी और गुप्तजी'।

पटाक्षेप

६

इस प्रारंभिक व्यक्तव्य पर पटाक्षेप करने के पूर्व दो बातें और निवेदित कर देनी हैं :—

(क)

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के जीवन-वृत्त के पढ़ने से यह बात स्पष्ट मालूम होती है कि कारुण्यधारा न केवल हमारे चरित-नायक के काव्य की ही प्रमुख धारा रही है, अपितु उनके जीवन की भी। जिस समय उनके जीवन-गगन में प्रथम-प्रथम कनक के कुंकुम की कमनीय कान्ति विकीर्ण होनेवाली थी, उस समय दुर्भाग्य के दुर्दान्त दुर्दिन छा गए। फलतः, कवि का भावुक हृदय 'अपना रोना रोकर देश के लिए रोनेवाला बन बैठा'। आगे चलकर कवि की कलम की नोक व्यापार में लुटे हुए काञ्चन को तो क्रमश. खींच लाई; पर अपत्य और पत्नी के प्रणय का प्याला भर-भर कर लुढ़क

पड़ा,—जाने कितने 'अर्धखिले कुसुम' विधना ने असमय में ही मसल डाले। अतः यदि गुप्तजी की कविता की लड़ियों में आँसू के मोती अनायास ही जुड़ गए हों, तो उनमें कोई भी सहृदय समालोचक कवि के करुण-करुण हृदय का अरुण-अरुण प्रतिबिम्ब देख सकता है, विशेषतः ऐसी दशा में, जब आलोचक का हृदय स्वतः घायल हो चुका है।

(ख)

'पृष्ठभूमिका' के प्रेस में जाने पर श्रीयुत सियारामशरण गुप्त ने गुप्तजी की कृतियों का प्रकाशन-काल सिलसिलेवार लिखवा भेजा है। उसे मैं संक्षेप में इस उद्देश्य से दे रहा हूँ ताकि कवि की प्रतिभा और शैली के विकास के ऐतिहासिक अध्ययन में साहाय्य हो सके।

प्रथम-प्रकाशन-संवत्	*रचना*
१९६६	रंग में भंग।
१९६७	जयद्रथ-वध।
१९६८	पद्य-प्रबंध (अप्राप्य)।
१९७१	भारत-भारती; विरहिणी-व्रजांगना।
१९७२	तिलोत्तमा।
१९७३	चंद्रहास।
१९७४	किसान।
१९७६	पत्रावली; वैतालिक।
१९७७	शकुन्तला, पलासी का युद्ध।
१९८२	पंचवटी; अनघ; स्वदेश-संगीत; गीतामृत।

१९८४	वीरांगना; मेघनाद-वध; शक्ति; वन-वैभव; बक-संहार; सैरंध्री; हिंदू।
१९८५	विकट-भट; गुरुकुल।
१९८६	झंकार; स्वप्नवासवदत्ता।
१९८८	रुबाइयात उमर ख़य्याम; साकेत (प्रथम चार सर्ग १९७३-७४ में लिखित)।
१९९०	यशोधरा।
१९९३	द्वापर; सिद्धराज।
१९९७	नहुष।

"इन पुस्तकों के अतिरिक्त सैकड़ों फुटकर कविताएँ सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित हुईं। उन्हें संगृहीत करके कई कविता-संग्रह निकल सकते हैं। उनके प्रकाशन का विचार हो रहा है। 'कविता-कलाप' नामक पुस्तक में, जो इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था, अनेक कविताएँ संगृहीत हैं।" (श्रीसियारामशरण गुप्त के पत्र से उद्धृत)।

(ग)

इस आलोचना-ग्रंथ के प्रथन में जिन ग्रंथों से मैंने सहायता ली है उनका ऋणी हूँ। उनमें एक मेरे सहाध्यापक प्रो० जगन्नाथराय शर्मा का भी है। प्रो० डा० ईश्वरदत्त (पटना कालेज के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष) एवं प्रो० विश्वनाथ प्रसाद (मेरे सहाध्यापक) ने, जब प्रथम-प्रथम निबंध-रूप में ग्रन्थ के कुछ अंश पढ़े गए थे, उस समय, जो अमूल्य सम्मतियाँ दीं, उनका मैं कृतज्ञ हूं। अपने आचार्यों—डा० हरिचंद शास्त्री एवं डा० बनर्जी शास्त्री—का भी मैं

कृतकृत्य हूँ, जिनकी प्रोत्साहनाओं एवं सदिच्छाओं की पतवार ने समीक्षा की इस डगमगाती डोंगी को किनारे लगाया है।

श्री० रामलोचनशरण 'बिहारी' (उपनाम 'मास्टर साहब') ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में जिस स्नेह एवं वत्सलता का प्रदर्शन किया है, वे मेरे मानस-पटल पर चिर-मुद्रित रहेंगे। उनकी अनुकम्पा पम्पा ने न जाने कितने बिहार के ऐसे कवियों और लेखकों की प्रतिभा पयस्विनी को जीवन-दान दिया है, जिनके काव्य-कण कीड़ों के द्वारा कवलित कागजों में पड़े मानों कराह रहे थेः—

'सूर' सिकत हठि नाव चलावो ये सरिता हैं सूखी !

पटना कालिज, पटना।
दीपावली, १९३१।

—विद्वज्जनचर्चितचरणरेणु
धर्मेन्द्र।

गुप्तजी
के
काव्य
की
का
रु
ण्य
धा
रा

विषय-सूची

प्रतिपाद्य विषय

की

झाँकी

प्रथम खंड : प्रबन्ध काव्य ।

परिच्छेदसंख्या — आरम्भिक पृष्ठसंख्या

द्वितीय खंड : स्फुट काव्य ।

तृतीय खंड : 'झंकार' और गुप्तजी की छायावादिता ।

चतुर्थ खंडः नाटक ।

गुप्तजी के काव्य

की

कारुण्य-धारा

१

कविवर मैथिलीशरण गुप्त उन इने-गिने साहित्यिक महारथियों में से हैं जिन्होंने नवयुग की प्रगति के साथ कदम में कदम मिला कर चलने की चेष्टा की है। उनके काव्याकाश की सान्ध्य अरुणिमा में प्राचीन और नवीन–दोनों सरणियाँ प्रतिफलित हैं। उनकी कविता की लड़ियों में अतीत और वर्त्तमान दोनों की कड़ियाँ जुड़ी हैं। ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने 'नवयुगकाव्यविमर्ष' की भूमिका में लिखा है कि "द्विवेदी युग में जितने भी कवि खड़ी बोली के हुए उनमें से मैथिलीशरण गुप्त ही एक ऐसे कवि हैं जो सदैव समय के साथ रहे, और जिनके काव्य की प्रगति बलवती और नवीन वातावरण के अनुकूल रही"।*
प्रस्तुत निबन्ध में गुप्तजी के काव्यों में जो कारुण्य की धारा प्रवाहित हो रही है उसकी समीक्षा की जायगी।

---

* भूमिका—पृ. २१

गुप्तजी की रचनाओं के मुख्यतः तीन विभाग होगे:—

१ स्फुट रचनाएँ:—भारतभारती, मंगलघट, पत्रावली, वैतालिक, स्वदेशसंगीत, हिन्दू, झंकार आदि।

२ नाटक:—चन्द्रहास, तिलोत्तमा, अनघ, स्वप्नवासवदत्ता।

३ प्रबन्धात्मक काव्य:—रंग में भंग, जयद्रथवध, शकुंतला पंचवटी, सैरंध्री,-वक-संहार और वनवैभव की 'त्रिपथगा', किसान, विकट भट, गुरुकुल, द्वापर, यशोधरा, साकेत, नहुष, शक्ति।

२

हम पहले प्रबन्धात्मक काव्यों की आलोचना से ही आरम्भ करें, क्योंकि प्रबन्धात्मक रचना में रस के परिपाक का जितना अवकाश मिल सकता है उतना स्फुट रचनाओं में नहीं। गुप्तजी का आरंभिक काव्य है '*रंग में भंग*'। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसकी संक्षिप्त भूमिका में लिखा है कि—"जिस घटना के आधार पर यह कविता लिखी गई है वह ऐतिहासिक घटना है, कोरी कवि-कल्पना नहीं। वह जितनी ही कारुणिक है उतनी ही उपदेश-पूर्ण भी है"। द्विवेदीजी ने इस छोटे-से वाक्य में मानों गुप्तजी की भावुकता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-सा कर दिया है, क्योंकि '*रंग में भंग*' ने उनकी उन तीन विशेषताओं का प्रतिनिधित्व किया है जो उनके प्रायः सभी काव्यों में परिलक्षित हैं। वे हैं:—

१. घटना की ऐतिहासिकता अथवा ख्यातवृत्तता;

२. कथानक की कारुणिकता; और—

३. शैली की उपदेशपूर्णता।

इन तीन के अतिरिक्त उनकी दो और विशेषताएँ ध्यान में रक्खी जा सकती हैं—

४. आस्तिकभावना और धर्मपरायणता, तथा—

५. राष्ट्रीय और जातीय भावना तथा उसका पोषक वीर रस।

'रंग में भंग' का भी आरंभ अवतार-रूप राम के प्रति प्रणाम के साथ होता है, और जहाँ-तहाँ मातृभूमि के प्रति प्रेमोद्गार का भी परिचय दिया गया है। उदाहरणतः अपनी मातृभूमि बूंदी के अपमान को ध्यान में रख कर वीरवर कुम्भ बोल उठता है—

स्वर्ग से भी श्रेष्ठ जननी जन्मभूमि कही गयी
सेवनीया है सभी की वह महा महिमामयी
फिर अनादर क्या उसी का मै खड़ा देखा करूं?
भीरु हूँ क्या मै अहो! जो मृत्यु से मन में डरूं?[1]

किन्तु आस्तिकभावना अथवा राष्ट्रीयभावनाभरित वीरता—दोनों की परिणति करुण रस में ही हुई है। कथानक का मुख्यांश संक्षेप में यह है कि बूंदी के नृप वरसिंह के अनुज लालसिंह की कन्या से चित्तौर के सीसौदिया राजा 'खेतल' का

---

१ रंग मे भंग पृ० ३४।

पाणिग्रहण संपन्न हुआ। बिदाई के समय बातों-बात बात बिगड़ जाने से दोनों-अर्थात् वर और कन्या-पक्षों में घोर युद्ध होने लगा। परिणाम यह हुआ कि—

वर समेत बरातियों ने वीरगति पाई वहाँ[1]।

कन्या के वैवाहिक जीवन का सूर्य उदय भी न होने पाया था कि अस्त हो चला।

जानता था भंग होना कौन यों रस रंग का ?
ध्यान था किसको अहो ! इस शोचनीय प्रसंग का[2] ?

विधवा वधू ने अपने पति के शव के साथ अपने प्राणों की आहुति दे दी।

मिल गई चन्दन-चिता के ज्वाल-जालमोद में।

उपर्युक्त कथानक के क्रम से पाठक स्वतः इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि गुप्तजी की प्रतिभा को किसी 'रंग में भंग' होने पर जो 'शोचनीय प्रसंग' उपस्थित होता है उसकी करुणा प्यारी है। अन्तिम पद्य में उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है कि—

रुदन भी ऐसे समय में लगता बड़ा प्यारा हमें
हे हरे ! निर्मल करे यह नेत्र-जल-धारा हमें[3]।

---

१ रंग में भंग पृ० १८।
२ „ पृ० १९।
३ „ पृ० २५।

किन्तु 'रंग में भंग' के कारुण्य की विवेचना करते हुए हमें यह ध्यान में रखना होगा कि यह जीवन और सदाचार के उत्कर्ष का प्रतीक है, न कि उसके अपकर्ष का। गुप्तजी ने प्रायः जहाँ भी—मुख्यतः नारी-रूप का—सकरुण चित्रण किया है वहाँ उसे स्वार्थत्याग और वीरता की सुनहली तूलिका से सजाया है। निकृष्ट जीवन और पतन का भी परिणाम करुणाजनक होता है, किन्तु जीवन का यह आदर्शहीन रूप गुप्तजी को नहीं भाता। क्योंकि वैसी दशा में वे यह नहीं कह सकते कि—

धन्य है तू आर्य कन्ये! धन्य तेरा धर्म है
देवि! तू स्वर्गीय है, स्वर्गीय तेरा कर्म है[1]।

'रंग में भंग' में उस 'मानापमान के अतिरंजित दृष्टिकोण' की ओर भी संकेत है जिसने समय-समय पर भारतभूमि में खून की नदियाँ बहाई हैं।

---

१ रंग में भंग पृ० २४।

३

गुप्तजी के एक दूसरे काव्य 'जयद्रथवध' की ओर दृष्टि-पात करें तो उसमें मुख्यतः तीन स्थल ऐसे हैं जो करुण रस के आलम्बन बनाए जा सकते हैं :—

१. अभिमन्यु की वीरगति

२. उत्तरा का विलाप

३. जयद्रथ का वध

इनमें प्रथम दो का कारुण्य तो जीवन का उत्कर्ष-विधायक है, किन्तु तृतीय का नहीं। अतः हमारे कवि ने प्रथम दो प्रसंगों का तो सहानुभूति और समवेदनापूर्ण चित्रण किया है, किन्तु तीसरे, अर्थात् जयद्रथ वध के प्रसंग को, न केवल 'भगवान की इच्छा' कह कर टाल ही दिया, प्रत्युत उसे धर्मराज और अर्जुन के 'सुख-संमिलन' का पृष्ठाधार भी बनाया। यह है गुप्तजी का आदर्शवाद। 'गिरीश' ने ठीक ही लिखा है कि उन्हें "मानव-

समाज के वर्ग-विशेष से विशेष सहानुभूति है, विशेष प्रेम है। उसीके दैन्य ने उनके हृदय में करुणा का संचार करके उनकी काव्यकला की सेवाओं का नियोजन किया है[१]।" उत्तरा उस वर्गविशेष की पात्री है जिसके लिये कवि के हृदय में गौरव है। वीर अभिमन्यु जिस समय अपनी प्रिया से बिदा लेता है तो वह यह कह कर अपने उदात्त चरित्र का परिचय देती है कि—

क्षत्राणियों के अर्थ भी सबसे बड़ा गौरव यही—
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिये जो आपही[२]।

किन्तु तात्कालिक अपशकुनों को देखकर वह विकल हो उठती है, और—

हे उत्तरा के धन! रहो तुम उत्तरा के पास ही[3]—

जैसी करुणपूर्ण पंक्ति में अपनी उस विकलता को व्यक्त करती है। इस प्रकार की विकलता उपर्युक्त उदात्त चरित्र के साथ मेल खाती है या नहीं इसकी विवृति हम अपने पाठकों पर ही छोड़ देते हैं। क्रमशः अभिमन्यु ने अकेले सप्त महारथियों से लड़ाई लड़ी, किन्तु—

इस भाँति पाई वीर गति सौभद्र ने संग्राम में[४]।

---

१ गुप्तजी की काव्यधारा पृ० १९

२ जयद्रथवध पृ० २१

३ „ पृ० ७

४ „ पृ० ७

और—

" शोक पाण्डव-पक्ष में सर्वत्र ऐसा छा गया
मानों अचानक सुखद जीवन-सार सर्व बिला गया[1]।

विशेषतः उत्तरा का विलाप बड़ा ही मर्मभेदी है। अतीत सुखद स्मृतियों की कसक उसे और भी तीव्रतर बना देती है।

मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रंथि-बंधन साथ में
मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में।
मै हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी
भूलो न मुझको नाथ, हूँ मै अनुचरी चिरसंगिनी[2]।

निर्जीव पति के प्रति ये 'मैं हूँ वही' की विधुर स्मृतियों से पूर्ण उक्तियाँ कितनी कारुणिक हैं! सुभद्रा, अर्जुन, कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव—सबके हृदय से वीर अभिमन्यु के निधन पर करुण-क्रन्दन की धाराएँ फूट चलीं। यहाँ तक कि—

कृष्णा, सुभद्रा आदि को अवलोक कर रोते हुए
हरि के हृदय में भी वहाँ कुछ कुछ करुण-रस-कण चुएँ[3]।

कवि-कल्पित करुण-रस के व्यापक प्रभाव से निर्विकार कृष्ण भी अछूते नहीं रह सके।

---

१ जयद्रथवध पृ० २१
२ ,, पृ० २५
३ ,, पृ० ४८

४

'शकुन्तला' यद्यपि निरा पद्यात्मक प्रबंध है, तथापि कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की छाया स्पष्ट दीखती है। कृष्ण-मृगानुसारी दुष्यन्त से ही इस छोटे-से काव्य का भी उपक्रम किया गया है। कवि ने कालिदास का ऋण स्वीकार भी किया है—

> मृग के बदले मृगनयनी को वहाँ महीपति ने पाया
> और यहाँ भी कालिदास ने श्रवण-सुधा-रस सरसाया[1]।

हमें मानना पड़ेगा कि कालिदास-कृत अभिनय का यह संक्षिप्त विधान (summary trial) करके गुप्तजी ने अपनी भावना की सन्तुष्टि भले ही की हो, किन्तु कलात्मकता की दृष्टि से उन्हें सफलता नहीं मिली है। यदि आंशिक सफलता यत्र तत्र मिली

---

१ शकुंतला पृ० १

भी तो उन्हीं प्रसंगों में जो सकरुण हैं। 'पत्र' शीर्षक में कवि ने जो दुष्यन्त और शकुन्तला की विकलता का वर्णन किया है वह मार्मिक है और कुंडलिया-की-सी शैली ने उसमें जान-सी फूँक दी है। उदाहरण:—

शकुंतला की चाह में होकर अधिक अधीर
फिरते थे दुष्यन्त नृप मञ्जु मालिनी—तीर।
मंजु मालिनी-तीर विरह के दुख के मारे
करते विविध विचार मिलन की आशा धारे।
होती है ज्यों चाह दीन जन को कमला की
थी चिन्ता गंभीर चित्त में शकुन्तला की[1]।

यदि पाठक इस काव्य को आरंभ से अन्त तक पढ़ जायँ तो उन्हें पता चलेगा कि कवि की मधुकरी वृत्ति ने केवल करुणा के मकरन्द-बिन्दुओं का ही चयन करके अपनी छोटी-सी झोली भर डाली है। प्रारंभिक दो तीन पृष्ठों के पश्चात् प्रायः सारा कथांश दुखद ही है और इसका परिचय हम उन क्रमिक शीर्षकों में ही पाते हैं जिनसे होकर काव्य की धारा प्रवाहित हुई है। यथा—पत्र, अवधि, अभिशाप, बिदा, त्याग, स्मृति, कर्त्तव्य और मिलन। यह अन्तिम मिलन भी एक कारुणिक दृश्य है जिसमें राजा

---

१ शकुन्तला पृ० १०।

अनुताप की भावना से कहता है—

व्रत करने से बढ़ी अंग-कृशता बड़ी
सिर पर उलझी हुई एक वेणी पड़ी।
धूल भरे तनु-वस्त्र मलिन से हो रहे
तू ने मेरे लिये हाय! ये दुख सहे[1]!

वह उस अपमानिता पत्नी से पैरों पर पड़ कर क्षमा मांगता है किन्तु शकुन्तला यह कह कर राजा की आत्म-ग्लानि का परिहार करती है कि—

उठो नाथ! वह कुछ न तुम्हारा दोष था
मुझ पर ही अज्ञात दैव का रोष था[2]।

'शकुन्तला' के पढ़ने से ऐसा मालूम होता है मानों वह 'यशोधरा' का अरुणिम अग्रदूत और प्राथमिक प्रतिनिधि हो। जैसे 'यशोधरा' में सिद्धार्थ और गोपा के जीवन की माला में राहुल मध्यम मणि के समान पिरोया गया है, उसी प्रकार 'शकुन्तला' में भी सिंह-पोत से खिलवाड़ करने वाला सर्वदमन शकुन्तला के विरह-सागर-संतरण में पोत का काम करता है।

'शकुन्तला' में गुप्तजी की एक और विशिष्ट भावना की झलक है जो क्रमशः विकाशोन्मुख हुई है,–वह है नारी-सम्मान के

---

१ शकुन्तला पृ० ५३।

२ ,, पृ० ५३।

प्रति कवि का पक्षपात। यह भावना अपने प्रकृष्ट रूप में यशोधरा में निखर आई है, जहाँ बुद्धदेव स्वयं उसके पास आकर झुकते हैं—

मानिनि! मान तजो लो, रही तुम्हारी बान!
दानिनि! आया स्वयं द्वार पर यह वह तत्रभवान।
यदि मैंने निर्दयता की तो क्षमा करो प्रिय जान
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज मैं शुद्ध बुद्ध भगवान[1]।

नारी-हृदय के प्रति इस पक्षपात, इस संमानना ने गुप्तजी की प्रायः सभी पात्रियों के चरित्र को उन्नत और आदर्श चित्रित करने के लिये उन्हें बाध्य किया है। अतः जब हम उन्हें विपत्तियों में ग्रस्त देखते हैं, तो हमारे अन्तस्तल की करुणा सजग और तीव्र हो जाती है। हमारी आशाओं और उनके बेमेल दुष्परिणामों में जितनी ही गहरी खाई होगी हमारी करुणा का स्रोत उतने ही उद्दाम रूप में उबलेगा। किसी आदर्श चरित्र को दुःखमय परिस्थितियों में देख कर एक वैषम्य का अनुभव होता है। यह वैषम्य हमारी आशा की विफलता का प्रतीक है और आशा की विफलता ही करुणा की जननी है। 'शकुन्तला' में हम गुप्तजी का अतीत के प्रति गौरव और वर्त्तमान के प्रति असन्तोष का जो भाव है उसे भी व्यक्त पाते हैं। यह लिखने के उपरान्त कि सर्वदमन ही का पश्चाद्वर्ती नाम 'भरत' था और 'भरत' से ही

---

1 यशोधरा पृ० २०७।

'भारत' नाम का जन्म हुआ, वे 'भारत' को संबोधन करके एक दर्दभरी उसाँस छोड़ कर काव्य समाप्त कर देते हैं—

भारत ! अब वह समय तुम्हें क्या याद है ?
होता उसका कभी सहर्ष विषाद है ?
वे दिन अब क्या तुम्हें मिलेंगे फिर अहो !
इसका उत्तर और कौन देगा कहो[1] ?

यह सकरुण उसाँस ही 'शकुन्तला' की पूर्णाहुति होती है।

---

1 शकुन्तला पृ० ५४।

५

'पंचवटी' के नायक लक्ष्मण हैं, और उन्हीं के चरित्र-विकास में रामचन्द्र, सीता, शूर्पणखा आदि के कथनोपकथन साधन के रूप में समाविष्ट किये गए हैं। लक्ष्मण का भी वही स्वरूप 'पंचवटी' में विकसित हुआ है जिसमें वनवास का कारुण्य प्रधान है। गुप्तजी ने भले ही इस कारुण्य की काली साड़ी पर हास-परिहास के बेल बूटे सजाए हों, किन्तु मुख्य वातावरण का विषाद पृष्ठाधार के रूप में बना ही रहता है। काव्य के आरंभ में ही कवि ने लक्ष्मण का जैसा सजीव वर्णन किया है उससे करुणा की एक प्रतिमूर्त्ति आँखों के सामने खड़ी हो जाती है:—

पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्णकुटीर बना
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर, वीर, निर्भीकमना।

जाग रहा यह कौन धनुर्धर जब कि भुवन भर सोता है ?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है[1]।

अन्तिम पंक्ति में अनुप्रास की समता परिस्थितियों की विषमता को और भी प्रखर कर देती है। किन्तु क्रमशः यह विषमता पारस्परिक हास्य-विनोद में विस्मृत होने लगती है; कारुण्य की परिणति शृङ्गार रस में होने लगती है, और शृङ्गार रस की परिणति हास्य रस में। अचानक रात्रि में वह 'हास्यवदनी बाला' शूर्पणखा लक्ष्मण से प्रणय की भिक्षा मांगती है, और लक्ष्मण चकित-स्तम्भित-से उसे यह समझाना चाहते हैं कि—

हा ! नारी ! किस भ्रम में है तू
प्रेम नहीं यह तो है मोह[2]।

('प्रेम' और 'मोह' की विशद विवेचना तो 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में देखी जा सकती है)। वाद-प्रतिवाद में ही रात बीत गई और—

इसी समय पौ फटी पूर्व में
पलटा प्रकृति-पटी का रंग।
किरण-कंटकों से श्यामाम्बर
फटा, दिवा के दमके अंग[3]।

---

१ पंचवटी पृ० ६।
२ " पृ० ३५।
३ " पृ० ३६।

सीता भी 'पंचवटी' की 'रंगभूमि' पर नए अभिनयारंभ के लिये प्रस्तुत हो गई और भाभी-देवर के परस्पर परिहास के दृश्य का पटोत्तोलन हुआ। उन्होंने झट लक्ष्मण से प्रश्न किया—

कब से चलता है बोलो यह
नूतन शुक - रम्भा - संवाद[1]?

फिर उस रमणी से भी विनोद-वार्त्तालाप किये—

अजी, खिन्न तुम न हो, हमारे ये देवर हैं ऐसे ही
घर में ब्याही बहू छोड़कर यहाँ भाग आए हैं ये[2]।

राम ने भी शूर्पणखा की प्रणय-याचना की विनोदमय ही उपेक्षा की।

सारांश यह कि 'पंचवटी' में गुप्तजी ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि कारुणिक परिस्थितियों में भी आमोद प्रमोद की मंदाकिनी बहाई जा सकती है। कारुण्य-चित्रण का यह भी एक प्रकार-विशेष है। शूर्पणखा के नाक-कान कटने पर कुछ अपशकुन हुए और राम, लक्ष्मण, सीता के हृदय में कुछ आशंकाएँ हुईं, किन्तु इन आशंकाओं की घटाएँ उठने भी न पाई थीं कि कवि ने उन्हें मुसकान की सुनहली किरणों से रँग दिया—

यह कह कर लक्ष्मण मुसकाए
रामचंद्र भी मुसकाए

---

१ पंचवटी पृ० ४०।

२ " पृ० ४१।

सीता मुसकाई, विनोद के—
पुनः प्रमोद—भाव छाए[1]।

'पंचवटी' में हृदय की विषादमयी अनुभूति पर विजय प्राप्त करने वाली आनन्दानुभूति का अमर संदेश अंकित है। इसके अतिरिक्त, भाभी-देवर-संबंध मैथिलीशरण गुप्त की काव्यगत दुर्बलताओं में से है। 'पंचवटी' में उनकी यह दुर्बलता अपनी प्रबलता पर है। लक्ष्मण और सीता के परंपरागत चरित्र-चित्रण में इस नए जमाने की भाभी-देवर-वाली परिहास-मनोवृत्ति का संक्रमण कहाँ तक न्याय्य है,—यह विचारणीय प्रश्न है। 'नई बोतल में पुरानी मदिरा' (Old wine in a new bottle)-वाली अंग्रेजी कहावत याद आती है। फिर भी जहाँ जहाँ मौका मिला है, गुप्तजी इस भाभी-देवर-कांड के सृजन से बाज नहीं आए हैं। उदाहरणतः *'सैरन्ध्री'* में सुदेष्णा कीचक के अनुत्तर-दायी विनोद का तिरस्कार करती हुई कहती है—

....

ठहरो भैया! ठीक नहीं इस भाँति ठठोली।
भाभी है क्या यहाँ चिढ़े जो यह कहने से?
औ विनोद हो तुम्हें विनोद-विषय रहने से[2]?

---

१ पंचवटी पृ० ६५।

२ सैरंध्री पृ० १०।

तात्पर्य यह कि 'भाभी' और 'ठठोली' ये दोनों भावनाएँ कवि के मस्तिष्क में लगभग समसामयिक रूप से जाग्रत होती हैं।

प्राकृतिक दृश्यों के कुछ वर्णन तथा ललित शैली की दृष्टि से 'पंचवटी' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। नारीरूप के प्रति पक्षपात यहाँ भी प्रगट है। लक्ष्मण जब शूर्पणखा से दर्पपूर्ण बातें करते हैं तो वह भी रोषभरे शब्दों में घोषित करती है—

तो क्या अबलाएँ सदैव ही
अबलाएँ है बेचारी?
नहीं जानते तुम कि देखकर
निष्फल अपना प्रेमाचार
होती है अबलाएँ कितनी
प्रबलाएँ अपमान विचार[1]!

गुप्तजी के कवि-संसार की प्रायः सभी नारियों का अवतरण तो अबला के रूप में होता है किन्तु पुरुषों के तिरस्कार की चोट खाकर वही अबला प्रबला में परिवर्त्तित हो जाती है।

---

१ पंचवटी पृ० ५८।

६

'वन-वैभव' में पाण्डवों के वनवास की कथा है। इसका पूर्वार्ध करुण है, और उत्तरार्ध वीर। कवि पाण्डवों के अतीत वैभव को याद कर के उनके वर्त्तमान पराभव पर आठ आठ आँसू बहाता है—

आज पाण्डव वनवासी है
पास वे दास न दासी है
न योगी है, न विलासी है
उदासी है सन्यासी है
कहाँ वे विभव विलीन हुए!
देशपति जो थे वे दीन हुए[1]!

कारुण्य की यह अन्तर्धारा इस छोटी-सी कविता की केन्द्रीय

---

१ वनवैभव पृ० १०।

और व्यापिनी भावना है। इस कारुण्य के प्रतिकूल पृष्ठाधार पर जब उत्तरार्ध में दुर्योधन की शानोशौकत का वर्णन आता है—

इधर कौरव दल गौरव धार
विपिन में करने लगा विहार
गूँजने लगी गान-गुञ्जार
नूपुरों की नव-नव झंकार
कहीं कुंजों में क्रीड़ा, भेंट
कहीं जलकेलि, कहीं आखेट[1]।—

तो पाण्डवों की दयनीय दशा के प्रति हमारी सहानुभूति और गहरी हो जाती है। किस भी सुखद परिस्थिति की दुखद परिणति करुणा का उद्दीपन होती है, और दोनों परिस्थितियों में जितना ही अधिक वैषम्य होगा, करुणा उतनी ही मार्मिक होगी। वन-वैभव की करुणा की मार्मिकता का प्रथम आधार पाण्डवों की अतीत और वर्तमान परिस्थितियों की विषमता ही है। दूसरा आधार कवि का वह कलात्मक प्रतिपादन है जिसके द्वारा एक ओर तो पाण्डवों की दीन-हीन दशा और दूसरी ओर कौरवों का भोग-विलास बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से दर्शाए गए हैं। करुणा के काले बादलों में रसरंग की चपला की चमक, और रसरंग की चपला की चमक में करुणा के काले बादल—दोनों अपने उद्दाम रूप में निखर आए हैं।

---

१ वनवैभव पृ० ३०।

चित्ररथ से कौरवों का युद्ध और उनका बन्दी होना और फिर भी उन पर युधिष्ठिर आदि का सद्भाव बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। दुर्योधन की उस दुखद परिस्थिति से युधिष्ठिर अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहते थे। उन्होंने अपनी अवस्था पर संतोष प्रकट करते हुए कहा—

राम ने राज्य विभव छोड़ा
उन्हें था वन में दुख थोड़ा ?
भरत ने भी निज मुख मोड़ा
धर्म-धन ही सबने जोड़ा
सहेंगे -दुख हम भी धर्मार्थ
पुण्य ही तो है परम पदार्थ[1]।

यदि केवल पाण्डवों-कौरवों की उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों के वैषम्य दिखला कर ही कवि चुप रह जाता तो हमारे आदर्श और आशाओं पर बड़े जोर का धक्का लगता। अतः कौरवों की ज्यादती का प्रतिशोध होना ही था। न्याय का पल्ला भारी हुआ और कारुण्य का चक्र अपने संचालक के ही सिर पर घहर आया। यह बात दूसरी है कि उदार अर्जुन ने गन्धर्व चित्ररथ से युद्धकर के अपने अपकारी कौरव भाइयों को बंधन-मुक्त किया।

---

१ वनवैभव पृ० ४२।

७

'सैरंध्री' में यद्यपि कीचक और सैरन्ध्री (द्रौपदी)—ये ही दो पात्र प्रधान हैं, किन्तु कीचक की बहन सुदेष्णा का भी समावेश करके कवि ने अपने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का परिचय दिया है। वह अपने पापी भाई के कार्य में बाधिका भी है, साधिका भी। नारीत्व के प्रति कवि के हृदय में जो पक्षपात है उसने सुदेष्णा को भी सुनहली तूलिका से चित्रित किया है। द्रौपदी की दयनीय दशा से अनुचित लाभ उठाने की कामना रखनेवाले कीचक से वह चेतावनी के रूप में कहती है कि—

सब पाण्डव भी होंगे प्रकट
नहीं छिपेगा पाप भी
सहना होगा इस राज्य को
अबला का अभिशाप भी[1]।

---

1 सैरंध्री पृ० १६।

और साथ ही साथ पुरुष-जाति पर कलंक के छींटे भी उछालती है—

हम अबलाएँ तो एक ही की
होकर रहती है सदा
तुम पुरुषों को सौ भी नहीं
होती है तृप्ति-प्रदा[1]।

उसी प्रकार अन्यत्र—

सुन्दरता यदि विधे! वासना उपजाती है
तो कुल-ललना हाय! उसे फिर क्यों पाती है
काव्य-रीति को प्रीति नाम नर देते है बस
कीट-तृप्ति के लिये लूटते है प्रसून-रस[2]।

ऐसी पंक्तियों को देख कर कभी कभी यह धारणा होने लगती है कि स्त्रियों के प्रति अति-सहानुभूति के द्वारा कवि ने पुरुषों के प्रति कहीं कहीं अन्याय भी किया है। संभवतः इसका कारण यह भी हो सकता है कि अब तक पुरुषों ने स्त्रियों को पृष्ठभूमि में रख कर जो अत्याचार किया है, उसके प्रतीकार के लिये, कवि ने, स्त्रियों को अग्रभूमि (Forefront) में रखने की चेष्टा में, पुरुषों को कहीं कहीं आवश्यकता से अधिक पृष्ठभूमि (Background) में रख छोड़ा है।

---

१ सैरंध्री पृ० १६।

२ " पृ० १९।

सुदेष्णा के अतिरिक्त जो दो मुख्य पात्र हैं, वे हैं—कीचक और द्रौपदी। इनमें द्रौपदी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के लिये कवि ने उसकी असहायावस्था के कारुण्य-पट पर ही कीचक की पाशवी वृत्ति का चित्र खींचा है। किन्तु साथ ही साथ हमें याद रहे कि गुप्तजी का नारीरूप अपनी असहायावस्था में भी अपने आत्मसम्मान की तिलांजलि नहीं देता। इसीलिये तो सुदेष्णा ने कहा था—

सहना होगा इस राज्य को
अवला का अभिशाप भी[१]।

अवला द्रौपदी जब, अपनी इच्छा के विरुद्ध भी, पापी कीचक को चित्र देने जाती है तो उसे विश्वास है कि—

पापीजन का पाप उसी का भक्षक होगा
मेरा तो ध्रुव धर्म सहायक रक्षक होगा[२]।

अतः जब कीचक ने उसका हाथ पकड़ ही लिया तो उसका मर्दित आत्मसम्मान ज्वालामुखी के समान जाग पड़ा और—

आहा! अब हो उठी अचानक वह हुंकारित
ताव-पेंच खा बनी कालफणिनी फुंकारित[३]।

कथानक के अन्त में यह बताया गया है कि अपने मिलन-मनोरथ पर सवार होकर जब कीचक द्रौपदी-वेप में प्रच्छन्न

---

१ सैरंध्री पृ० १६।
२ ” पृ० ३२।
३ ” पृ० ३९।

भीम का आलिंगन करता है तो वही आलिंगन उसे अनन्त से मिला देता है। द्रौपदी के कारुण्य का निर्यात कीचक को अपने घोरतर कारुण्य से देना पड़ता है।

इस स्थल पर यह जान लेना चाहिये कि कारुण्य के संबंध में पाश्चात्य और पूर्वीय दृष्टिकोणों में एक भेद है। वह यह कि पश्चिम में 'ओथेलो' जैसे दुखान्त कथानक भी पाए जाते हैं जिनमें नायक-नायिका के अर्मान अन्त तक अधूरे ही रह जाते हैं। इसका एक कारण यह है कि कृश्चियन धर्म में पूर्व जन्म पर विश्वास नहीं है और कर्म और उसके फल के संबंध में कोई निर्णीत कार्य-कारण-संबन्ध की भावना नहीं है। अतः नायक अथवा नायिका का—उनके सद्गुणों के होते हुए भी—दुखद अन्त पश्चिमीयों को खटकता नहीं है। दूसरा कारण यह है कि पाश्चात्य सभ्यता मुख्यतः भौतिकतावादी (Materialistic) है; अतः भौतिकतावाद का सहचर निराशावाद भी उसके साथ लगा रहता है। इसके विपरीत पूर्वीय अथवा भारतीय आर्य धर्म में पुनर्जन्म और कर्मव्यवस्था ने गहरी जड़ पकड़ ली है, अतः उसके साहित्य में सद्गुणसम्पन्न नायक अथवा नायिका के जीवन का अन्तिम परिणाम यदि दुखद कल्पित किया जाय, तो इससे वह हिल उठेगो। फलतः हमारे नाटक प्रायः सदा सुखान्तक होते हैं, हमारे साहित्य प्रायः आशावादी होते चले आए हैं। न्याय अपना प्रतिशोध लेकर ही दम लेता है।

८

'त्रिपथगा' की एक तीसरी धारा का नाम है 'वक-संहार'। 'सैरन्ध्री' और 'वन-वैभव' के समान 'वक-संहार' की भी कथा-वस्तु 'महाभारत' से ली गई है। यद्यपि इस छोटे-से ग्रंथ का नाम वक-संहार रक्खा गया है, फिर भी वक के संहार का अवसर आते आते काव्य ही समाप्त हो जाता है। बकासुर को प्रत्येक परिवार अपना एक सदस्य भक्षणार्थ भेजा करता था। उस दिन ब्राह्मण परिवार की बारी थी। मौत से खेलना था। पति, स्त्री, कन्या सबों में होड़ लगी थी। बड़ा ही करुणाजनक दृश्य था। पाठक ब्राह्मण की निम्नलिखित उक्ति पर ध्यान दें कि उसमें कारुण्य का कितना उदात्त और सन्तोषमय रूप प्रस्तुत किया गया है। वह कहता है—

संसार में देखो जहाँ
सबके विरोधी गुण वहाँ
जल का अनल ज्यों, त्यों अनल का शत्रु जल
फिर मृत्यु का ही क्या कहीं
कोई विरोधी गुण नहीं?
मेरे मरण का शत्रु है जीवन अटल[1]।

उसका जीवन आज उसके मरण का दुश्मन बना बैठा है। कितनी तीव्र और सूक्ष्म वेदना भरी है उस ब्राह्मण के दिल में! ब्राह्मण परिवार की गंगोतरी से निकली हुई करुणा की यह गंगा कुन्ती के हृदय-प्रदेश में संक्रान्त हुई और बक का संहार हुआ। ब्राह्मण के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध हो चुकने पर बकासुर के यहाँ अपने पुत्र को भेजने के अवसर पर, कर्त्तव्य और वात्सल्य के बीच जो अन्तर्द्वन्द्व कुन्ती के मातृ-हृदय में हुआ, उसका सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण कवि ने किया है—

कर्त्तव्य कुन्ती कर चुकी
वह विप्र-विपदा हर चुकी
वात्सल्यवश अब हो उठी विचलित वही
जो थी शिला सी निश्चला
अब रुँध गया उसका गला[2]।

---

१ बकसंहार पृ० १२।

२ " पृ० ४६।

तात्पर्य यह कि 'सैरन्ध्री', 'वन-वैभव' अथवा 'वक-संहार'— इन तीनों की इस 'त्रिपथगा' में करुणा का जल ही अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित होता है।

एको रसः करुणएव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्[1]।

---

1 उत्तररामचरित (भवभूति)।

१

'किसान'-शीर्षक काव्य में, और अब तक जिनका परिचय दिया गया है उन काव्यों में, जो मुख्य अन्तर है वह यह है कि जहाँ वे काव्य अतीत इतिवृत्तों की नींव पर खड़े किये गए हैं वहाँ 'किसान' हमारे वर्त्तमान युग को प्रतिफलित कर रहा है। उनके सभी प्रबन्धकाव्यों में 'किसान' की यह *विशेषता* है; और इसके लिये उन्हें श्रेय है। दुख यह है कि गुप्तजी ने वर्त्तमान युग का चित्रण करनेवाला और कोई दूसरा प्रबन्धकाव्य नहीं लिखा।

खैर! 'किसान' गुप्तजी के हृदय की कारुण्यप्रवण प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय देता है। इस काव्य में एक गरीब किसान अपनी आत्मकथा गाता है। उसका प्रारंभिक बाल्य-जीवन निर्दोष और सुखमय था। आकस्मिक रूप से एक बालिका कुलवंती से उसका मिलन हुआ और फिर वे दोनों पति-पत्नी हो गए। यहीं

से उसकी करुण-गाथा का सूत्रपात होता है। क्रमशः दीनता का रंग और गाढ़ा हुआ और—

साह, महाजन, जमीन्दार—तीनों ठने
वात, पित्त, कफ सन्निपात जैसे बने[1]।

यह गरीब किसान अपनी पत्नी सहित 'आरकाटियों' के चंगुल में फँसा और फिजी में कुली-जीवन व्यतीत करने लगा। वहाँ के ओवरसियर की नृशंसता से उसे कुलवंती से भी हाथ धोना पड़ा। फिर समयक्रम से वह भारत लौटा और देखा कि उसकी 'उदार सरकार' रण-संकट में पड़ी थी। वह सैनिक बन गया और टिगरिस तट पर युद्धभूमि में छाती पर 'विक्टोरिया क्रास' पहने हुए 'ब्रिटिश राज्य के उपकारों का बदला' चुकाते हुए वीरगति पाई। कवि ने किसान के 'कृषक, कुली, फिर सैनिक जीवन'—इन तीनों का जो रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है वह करुणा से आप्लुत है और इससे यह सिद्ध होता है कि यदि कवि की प्रतिभा जाग्रत होती है तो कारुण्य-कलित कल्पनास्थली में ही। काव्य के मुखपृष्ठ पर भी जो पंक्तियाँ हैं वे हमारी सहानुभूति का आह्वान करती हैं—

टिगरिस तट पर युद्धस्थल में
वीरोचित गति को पाकर

---

1 किसान पृ० ३५।

अन्तिम वाणी से पल पल में
निज शोणित से लिखवा कर
हे भारत ! मरने के पहले
यह तेरा किसान सैनिक
तुझे दिये जाता है पहले
आत्मचरित ही चिर दैनिक।

अच्छा होता यदि कवि ने किसान के जीवन का भी अन्त फिजी में ही कर दिया होता। वैसी दशा में—

राजभक्ति सर्वत्र हमारी रही सदा से ही विख्यात
उसे दिखाने का शुभ अवसर यहीं मुझे होता है ज्ञात[1]।

—आदि ऐसी मनोवृत्तियों के प्रदर्शन का अवसर नहीं होता जिनमें न तो तीव्र कारुणिकता ही है, न सच्ची कलात्मकता; न है जिनमें अनुभूति की उग्रता।

---

1 किसान पृ० ६३।

१०

'विकट भट' लगभग सोलह पृष्ठों की एक छोटी-सी ओजस्विनी कहानी है। मुख्य रस हैं वीर और करुण। किन्तु व्यापक रूप से करुण ही सर्वत्र विराजमान है। वीर रस समय समय पर उठनेवाली तरंगों के समान आया और चला गया है। जोधपुर महाराज के सरदार देवीसिंह को आत्मसम्मान का मूल्य अपने प्राणों से देना पड़ा। उनका पुत्र भी महाराज की क्रोधाग्नि की बलि हुआ। शेष बचा उनका बारह वर्ष का पौत्र सवाईसिंह। जब दरबार से उसकी भी बुलाहट हुई तो विधवा माता आँसुओं से भींगती हुई बोली—

वत्स! जाने में भी मुझे क्षेम नहीं दीखता
ससुर गए है और स्वामी गए साथ ही
मेरे लाल तू भी चला, कैसे धरूँ धैर्य मैं[1]?

---

1 विकट भट पृ० ६।

क्षण ही में उस क्षत्राणी की यह विकलता जाती रही और धैर्य के साथ उसने कहा—

रोने तक का भी अवकाश मुझे नहीं
तो भी आन बान विना जीना मरना ही है
तुझको भी प्राणहीन देख सकती हूं तब
किन्तु मानहीन देखा जायगा न मुझसे[१]!

फिर भी उसे बिदा देने के समय—

करुणा से कंठ भर आया ठकुरानी का
जाकर अंधेरी एक कोठरी में वेग से
पृथ्वी में लोट वह रोई ढाढ़ मार के
व्योम की भी छाती पर होने लगी लीक-सी[२]!

यद्यपि इस काव्य का अन्त सुखद है क्योंकि जोधपुर महाराज ने बालक की वीरता से प्रसन्न होकर उसे गले से लगा लिया और स्नेहपूर्वक उसे अपना सरदार बना लिया, तौ भी इसके सुन्दर कलात्मक तथा मनोवैज्ञानिक स्थल वे ही हैं जहाँ पर करुण प्रसंगों का वर्णन है। यथा—विधवा माता से सवाईसिंह की बिदाई।

---

१ विकट भट पृ० ६।
२ " पृ० ७।

११

'गुरुकुल' के अवतरण-भाग में कवि ने यह बतलाया है कि गुरु नानक के आविर्भावकाल में—

> आर्त-अधीन हुआ था भारत
> अति कराल था संकट काल

क्योंकि—

> छाया था सब ओर यहाँ पर
> उद्धत यवनों का आतंक
> देख धर्म - पर दारुण संकट
> रहते थे सब समय सशंक[1]।

तात्पर्य यह कि इस काव्य की सारी कथावस्तु का पृष्ठाधार हमारी कारुण्य-कलित तत्कालीन दीन दशा ही बतलाई गई है। इसके पश्चात् क्रमशः गुरु नानक, अंगद, अमरदास, रामदास,

---

१ गुरुकुल पृ० २।

अर्जुन, हरगोविन्द, हरराय, हरिकृष्ण, तेगबहादुर, और गुरु-गोविन्द सिंह के जीवनवृत्तों का वर्णन है। अन्त में बन्दा वैरागी, तथा परिशिष्ट में पश्चाद्वर्ती सिक्ख वीर, के भी वर्णन आए हैं। इन वर्णनों में मुख्य रस है वीर, जिसकी विशेषता है वलिदान, जो अपने उत्कट रूप में प्रथम प्रथम गुरु अर्जुन के जीवन में प्रमाणित हुई—

गुरु अर्जुन ने निज वलि देकर
मानों किया शिला-विन्यास
चुना सिखों ने उस पर अपना
अम्बर-चुम्बी कीर्त्ति-निवास[1]।

गुरु अर्जुन के पश्चात् गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह के चित्र विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। लगभग आधी कविता तो गुरु गोविन्दसिंह पर ही केन्द्रित है। गुरु गोविन्दसिंह के जीवन-वृत्त में भी वह अंश बहुत मार्मिक है जिसमें दीवालों में चुने जाते हुए बच्चे के मुख से भी यही निकलता है कि—

तुम्हीं कहो, कैसे छोड़ें हम
परम्परागत निज संस्कार?
स्वयं हमारे दादा जी ने
सिर दे डाला दिया न सार[2]!

---

१ गुरुकुल पृ० ३५।

२ " पृ० १६५।

यद्यपि इस प्रसंग की वीरता प्रशंसनीय है, किन्तु फिर भी इसमें मार्मिकता का आधान करती है हमारी कारुण्यभावना जो उन शिशुओं के शिशुत्व पर उद्रिक्त हो उठती है। कारुण्य वीररस का उद्दीपन बन जाता है और वीर कारुण्य का।

कारुण्य की दृष्टि से गुरु गोविन्द और वैरागी बंदा का संलाप भी ध्यान देने योग्य है। जब गुरु ने उसके विराग का कारण पूछा तो उसने बतलाया कि—

गुरो ! तुम्हारा बन्दा हूँ मैं
इतना ही मेरा इतिहास
शान्त हुआ वीर-व्रत मेरा
लेकर एक करुण निश्वास[1] !

इसकी व्याख्या करते हुए बंदा ने कहा कि वह पहले बहुत ही हिंस्र प्रकृति का था, किन्तु एक बार उसने शिकार में एक गर्भिणी हरिणी को मारा, जिसके पेट चीरने पर तीन छौने निकले। किन्तु-

मेरे शर से मरते मरते
डाली उसने मुझ पर दृष्टि
साली मेरे रोम-रोम में
नीरव विष-विषाद की वृष्टि[2] ।

---

१ गुरुकुल पृ० १८१।

२ " पृ० १८२।

यही कारुणिक दृश्य उसके तत्काल वैराग्य का कारण सिद्ध हुआ। इस प्रसंग को पढ़कर वाल्मीकि-वाली वह कथा बरबस याद आ जाती है जिसमें क्रौंच-मिथुन में से एक की निर्दय हत्या उस मुनि की सुप्त प्रतिभा को उद्बुद्ध करने में समर्थ हुई थी। पंत ने संभवतः इसी आशय को लक्ष्य में रख कर लिखा है कि—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान
निकल कर आँखों से चुप चाप
बही होगी कविता अनजान[1]।

करुण रस मानों हमारे हृदय को द्रवित करके उसे आंसुओं के रूप में प्रवाहित कर देता है। अन्य रसों में इस द्रवीकरण की वेगवती शक्ति उतनी मात्रा में नहीं रहती।

---

१ पंत—'पल्लव'।

१२

एकाध को छोड़ कर अब तक के वर्णित काव्यों से महत्तर और महत्त्वपूर्ण है 'द्वापर'। कथानक का मुख्य आधार है श्रीमद्भागवत। शैली बहुत कुछ 'यशोधरा' से मिलती-जुलती है। क्योंकि इसमें भी व्यक्तियों के नाम से ही शीर्षकों के नाम दिये हैं और कथानक का प्रवाह आत्म-कथा के रूप में चलता है। इस काव्य में श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, विधृता, बलराम, ग्वाल-बाल, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, नंद, कुब्जा, उद्धव और गोपी—इन पर रचनाएँ हैं। पुरुष-पात्रों का चरित्र मुख्यतः वीररस-संवलित है, किन्तु स्त्री-पात्रियों की गाथा प्रायः सर्वत्र सकरुण है। इन स्त्री-पात्रियों में भी कवि की प्रतिभा को अत्यन्त अधिक प्रिय है विधृता। इस अज्ञातनाम्नी ब्राह्मण-वनिता को उसके पति ने भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन से बलपूर्वक 'विधृता' कर लिया अर्थात् रोक लिया। (कवि ने इसी कारण उसका 'विधृता' नाम कल्पित

किया है)। पति के हृदय में अविश्वास की भावना सजग हो गई; किन्तु उस नारी का हृदय शुद्ध था। उसे अपनी अबलावस्था और पुरुषों के अत्याचारों पर क्षोभ हुआ। वह बोल उठी--

अविश्वास हा! अविश्वास ही
नारी के प्रति नर का
नर के तो सौ दोष क्षमा है
स्वामी है वह घर का
उपजा किन्तु अविश्वासी नर
हाय! तुम्हीं से नारी
जाया होकर जननी भी है
तू ही पाप-पिटारी[1]!

हम ऊपर बतला चुके हैं कि गुप्तजी के हृदय में नारी-हृदय के प्रति पक्षपात है। और किन्हीं अंशों में यह न्याय्य भी है। अतः उनकी कविताओं में उपर्युक्त-जैसी उक्तियाँ बहुत हैं। बेचारी असहाय विधृता को इतना मनस्ताप हुआ कि उसने मृत्यु की शरण ली। उसके अन्तिम वाक्यों में बड़ी कातरता और दर्द भरे हैं। वे मानों कारुण्य की प्रतिमूर्त्ति हैं। उसके मराल-मलार (Swan's song) के अंतिम चरण हैं—

जाती हूँ, जाती हूँ अब मै
और नहीं रुक सकती

---

१ द्वापर पृ०-३१।

इस अन्याय समक्ष मरूँ मै
कभी नहीं झुक सकती
किन्तु आर्य नारी ! तेरा है
केवल एक ठिकाना
चल तू वहीं, जहाँ जाकर फिर
नहीं लौट कर आना[1] !

यशोदा के चरित्र में भी कवि ने कारुण्य का प्रचुर समावेश किया है। अपने लाड़िले को अपने हाथों से खोकर पहले तो उसके मातृ-हृदय में बड़ी विकलता होती है। किन्तु इस विकलता का पश्चाद्वर्ती रूप गंभीर हो जाता है और बड़ी शान्ति से वह भगवान से प्रार्थना करती है कि—

तेरा दिया राम सब पावें
जैसा मैंने पाया[2] !

इन पंक्तियों के बार बार दुहराने में कवि ने बड़ी कलात्मकता से काम लिया है और इस दृष्टि से हम उसकी पाश्चात्य कलाकार कवि टेनिसन (Tennyson) से तुलना कर सकते हैं

मधुर कल्पना की दृष्टि से कुब्जा का चरित्र प्रशंसनीय है।

---

१ द्वापर पृ० ३२।
२ " पृ० ६।

जब उसकी सेवाओं ने श्रीकृष्ण को जीत लिया तब उनसे उसकी अंगविकृति न देखी गई। फिर क्या था—

बाएँ कर से सिर संभाल कर
धर दाएँ से ठोड़ी
किया मुझे उत्कर्षित उसने
शक्ति लगा कर थोड़ी

देख पैर उठते, चरणों से
हँस कर इन्हें दबाया
मै उठ गई और कूबड़ का
मैंने पता न पाया!

चमक गई बिजली-सी भीतर
नस-नस चौक पड़ी थी
जन्म जन्म की कुब्जा क्षण में
सरला बनी खड़ी थी!

चिबुक हिलाकर छोड़ मुझे फिर
मायावी मुसकाया
हुआ नया निस्पन्दन उर में
पलट गई यह काया[1]!

---

१ द्वापर पृ० १३७।

यह सोचने की बात है कि कुब्जा का सरला बनना उसके लिये कोई अमिश्रित विभूति नहीं थी। क्योंकि साथ ही साथ 'मायावी' की मुसकान ने उसके हृदय में घर कर लिया। अब तो वह कल्पित कल्पनाओं के झूले पर मंद मंद झूलने लगी। वह कहती है—

आई रात हुआ चन्द्रोदय
मैंने यही विचारा
वह शशि है, मैं निशि होऊँ या
वह तमिस्र, मै तारा
हुआ प्रभात, और अरुणोदय
गूँजी उर की अलिनी
उसी पूर्व की फटती पौ मैं
उसी हंस की नलिनी[1]।

ये कल्पनाएँ मधुर भले ही हों किन्तु इनकी मधुरता के साथ अधूरी आकांक्षा अतृप्त तमन्नाएँ, दिल की कसक और टीस मिली हुई हैं। उस समय की कुब्जा की मनोवृत्ति को प्रतीक-रूप में हम रखना चाहें तो हम महादेवी वर्मा की वह पंक्ति रख सकते हैं जिसमें वे कहती हैं—

जग करुण - करुण मै मधुर - मधुर[2]!

---

१ द्वापर पृ० १४३।

२ महादेवी वर्मा-यामा पृ० १७२ (नीरजा)।

कवि ने गोपियों के वर्णन में भी बड़ी भावुकता से काम लिया है। उन्हें ऊधो का ज्ञानयोग अपील नहीं करता—

ज्ञान - योग से हमें हमारा
प्रेम - वियोग भला है[1]!

उनकी दयनीय स्थिति का निम्नलिखित चित्र अमर पंक्तियों में शुमार हो सकता है—

अहा! गोपियों की यह गोष्ठी
वर्षा की ऊषा - सी
व्यस्त ससंभ्रम उठ दौड़े की
स्खलित ललित भूषा - सी
श्रम कर जो क्रम खोज रही हो
उस भ्रमशीला स्मृति - सी
एक अतर्कित स्वप्न देखकर
चकित चौंकती श्रुति - सी
हो हो कर भी हुई न पूरी
ऐसी अभिलाषा - सी
कुछ अटकी आशा - सी, भटकी
'भावुक की भाषा - सी[2]!

---

१ द्वापर पृ० १६७।

२ ,, पृ० १५८–१५९।

मनोवैज्ञानिकता तथा औपम्य की सूक्ष्मता और नूतनता की दृष्टि से ये पंक्तियाँ किसी भी नवयुग के कवि की कृतियों से टक्कर ले सकती हैं।

राधा के भी निम्नलिखित मनस्ताप में हम एक कसक का अनुभव करते हैं—

सुख की ही संगिनी रही मैं
अपने उस प्रियतम की
व्यथा विश्व-विषयक न तनिक भी
बँटा सकी निर्मम की
उलटा अपना दुःख लोक को
मैंने दिया सदा को
उस भावुक का रस जितना था
जूठा किया सदा को[1]!

ऐसा प्रतीत होता है कि इन पंक्तियों को लिखते समय गुप्तजी को 'प्रियप्रवास' में विकसित राधा-चरित्र की याद आ गई हो। किन्तु जहाँ 'हरिऔध' की राधा इसका गर्व कर सकती है कि उसने प्रणय-पथ की पंथिनी होकर विश्व-विषयक व्यथा को बाँट लिया है, वहाँ गुप्तजी की राधा इस आदर्श को अपने पहलू में दबाए ठिठक गई है।

---

१ द्वापर पृ० १९२।

१३

'यशोधरा' में भी हम कारुण्य ही प्रधान पाते हैं। आरंभ से अन्त तक की गाथा करुणा से सिञ्चित है। 'साकेत' और 'यशोधरा' में यह अन्तर है कि 'साकेत' में आनन्दमय पूर्वरंग पर वियोग और विषाद का अभिनय रचा गया है। उर्मिला का अवतरणभाग तो सुखमय है—

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला
नाम है इसका उचित ही उर्मिला[1]।

काव्य के प्रभात में तो उर्मिला-सौमित्रि के हास्य-विनोद की अरुणिमा बड़ी मनोहारिणी है; किन्तु जब इस मनोहारिणी अरुणिमा को आकस्मिक दुर्घटनाओं के घने घन आकर तिरोहित कर लेते हैं तो हमारे हृदय की समवेदना रोके नहीं रुकती। आनन्द-

---

1 साकेत पृ० १२।

मय प्रतिकूल पृष्ठाधार पर विषादमय चित्रण एक कला है, और गुप्तजी 'साकेत' में इस कला में पूर्णतया सफल हुए हैं।

इसके विपरीत 'यशोधरा' में विरक्ति और विषाद के अनुकूल पृष्ठाधार पर ही करुण - गाथा की भित्ति खड़ी की गई है। यदि गुप्तजी चाहते तो यहाँ भी गोपा–सिद्धार्थ का सुखद वैवाहिक जीवन चित्रित करके फिर आँसुओं का संसार सजाते; किन्तु ऐसा करना कवि ने उचित नहीं समझा। 'यशोधरा' के कारुण्य के अनवरत प्रवाह के साथ कवि ने छेड़छाड़ करना नहीं चाहा है। यदि यशोधरा के पूर्ववृत्त का कहीं हमें संकेत मिलता है, तो उन पंक्तियों में, जहाँ वह कहती है—

आली, वही बात हुई, भय जिसका था मुझे[1]।

यदि 'यशोधरा' में एक और अध्याय पहले जुड़ा होता और वहाँ पर अज्ञात रूप से भावी दुखद परिस्थिति का संकेत होता तो उसमें 'अज्ञात आश्चर्य की आनन्दानुभूति' (Dramatic Irony) मिलती। किन्तु बात यह है कि 'यशोधरा' में कवि ने करुणा की एकमात्र धारा प्रवाहित करनी ही उचित समझी है। इस काव्य का निष्कर्षवाक्य—

अबला-जीवन ! हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी—

यही घोषित करता है कि कवि को वियोगिनी अबला के

---

१ यशोधरा पृ० २०।

पत्नीरूप और मातृरूप की द्वन्द्वमयी कठिन साधना की अभिव्यक्ति ही अभिप्रेत थी।

'साकेत' और 'यशोधरा' के कारुण्य-चित्रण में एक दूसरा अन्तर यह भी है कि यशोधरा का कारुण्य उर्मिला के कारुण्य से अधिक घनीभूत और उदात्त है। उर्मिला को तो वनवास की अवधि ज्ञात थी, किन्तु यशोधरा की विरह-की-रात अनन्त थी। उर्मिला के ऊपर लक्ष्मण ने कोई अन्याय नहीं किया था; उसके प्रति कोई तिरस्कार की भावना नहीं थी, किन्तु यशोधरा को उसके पति ने अवमानित किया था, उसके आत्म-सम्मान पर प्रबल आघात पहुँचाया था—

सिद्धि-हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात
पर चोरी चोरी गए, यही बड़ी व्याघात[1]!

यदि नारीत्व की निर्बलता में भी सबलता का आधान, उसकी कोमलता में भी कठोरता का संधान, उसके आत्मसमर्पण में भी आत्माभिमान का विधान गुप्तजी को इष्ट है, तो इस दृष्टि से *यशोधरा* के चित्रण में उर्मिला के चित्रण की अपेक्षा अधिक कलात्मकता लाभ की है उन्हों ने।

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी[2]!

---

१ यशोधरा पृ० ४२।

२ " पृ० ४२।

इन पंक्तियों में यशोधरा के चरित्र में जो विषम व्याघातों का समन्वय किया गया है उसकी ओर संकेत है। यशोधरा को क्षोभ यह है कि उसके पति ने उसे मोम की प्रतिमा ही समझ लिया। उन्हें मालूम होना चाहिये था कि इस मोम की प्रतिमा में एक अयस्कान्त-निर्मित क्षत्राणी छिपी हुई थी जो यह कह सकती थी कि—

स्वयं सुसज्जित कर के क्षण में
प्रियतम को प्राणों के पण में
हमीं भेज देती हैं रण में
क्षात्र - धर्म के नाते[1]।

'अमृत-पुत्र' बुद्ध ने नारी को सिद्धि-मार्ग की बाधा मान कर मानों संपूर्ण नारीत्व पर एक कलंक का टीका लगाया; किन्तु यशोधरा वह नारी नहीं है जो कलंक के इस टीके को अपने माथे पर हँसी-खुशी लगाए रहे। वह यह कबूल नहीं कर सकती कि केवल पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी है, और न यही कि मोक्ष गार्हस्थ्य के परे जंगल में ही मिला करता है। यशोधरा की मनोवृत्ति में और उसके विरह के कथानक में गुप्तजी ने कर्मयोग का एक सिद्धान्त-पथ भी रक्खा है—वह यह कि संसार में रहते हुए भी, गार्हस्थ्य-जीवन बरतते हुए भी, स्त्री-पुरुष मोक्ष के भागी हो

---

1 यशोधरा पृ० २२।

सकते हैं; और न हो सकें तो ऐसे मोक्ष से गार्हस्थ्य का कर्त्तव्य-बंधन ही श्रेयस्कर है—

निज बंधन को संबंध सयत्न बनाऊँ।
कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ॥'[1]

वह तो अपने पति को भी अपने ही पथ का पथिक बनाने के लिये आमन्त्रित करती है जिसमें दोनों मिलकर 'इस भव में भाव-विभाव' भर दें और संसार के लिये अपने को न्यौछावर कर दें।

आओ प्रिय! भव में भाव-विभाव भरें हम।

....

संसार हेतु शत वार सहर्ष मरें हम![2]

करुणाजनक परिस्थितियों में भी अपनी नारी-पात्रियों के आत्माभिमान की रक्षा गुप्तजी के काव्य-कला की विशेषता है। यशोधरा ने निश्चय कर लिया है कि यदि उसका प्रेम प्रबल है, यदि उसका सतीत्व अक्षुण्ण है, तो उसके पति को भी अपनी भूल का प्रायश्चित्त करना ही होगा। सम्भव है भावुक हृदय को यशोधरा की इस मनोवृत्ति में धृष्टता की गंध जान पड़े। किन्तु

---

१ यशोधरा पृ० १४८।

२ ,, पृ० १५१।

यदि यह धृष्टता है भी, तो विनय अथवा भक्ति की धृष्टता है। यशोधरा की नजरों में प्रेम अथवा भक्ति अन्योन्याश्रय होना चाहिये। केवल भक्त ही भगवान के पीछे दौड़ा करे और भगवान के कानों जूँ तक नहीं रेंगे—ऐसी भक्ति-परम्परा में उसे विश्वास नहीं। जिस प्रकार एक पाश्चात्य कवि ने लिखा है—

भक्ति उड़ाती है मानस को
जब ऊँचे की ओर
तब भगवान स्वयं आ मिलते
खिंचे प्रेम की डोर। *—

उसी प्रकार यशोधरा भी उद्घोषित करती है कि—

भक्त नहीं जाते कहीं आते है भगवान
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान।

....

उन्हें समर्पित कर दिये यदि मैंने सब काम
तो आवेंगे एक दिन निश्चय मेरे राम।
यहीं, इसी आंगन में।[1]

फलतः सिद्धार्थ के घर लौटने पर भी यशोधरा उनके स्वागत के लिये जाने से इनकार कर देती है; और जब राजमाता महा-

---

* Devotion wafts the mind above,
And Heaven itself descends in love.

१ यशोधरा पृ० ४६।

प्रजावती उससे यह पूछती है कि उसके वहाँ जाने में कौन-सी बाधा है तो उस समय उसके हृदय से चोट-खाई-हुई नागिन-की-फुफकार-जैसे जो उद्गार निकले हैं वे मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से साहित्य की अमर सम्पत्ति गिने जायँगे।

बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कोई भी !
विघ्न भी यही है, जहां जाने से जगत में
कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म से,
फिर भी जहाँ मैं, आप इच्छा रहते हुए
जाने नही पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठी रहती मैं ? छान डालती- धरित्री को।
सिंहनी-सी काननों में, योगिनी-सी शैलों में,
शफरी-सी जल में, विहंगिनी-सी व्योम में
जाती तभी और उन्हें खोजकर लाती मै !
मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज तो
लहरा रहा है, किन्तु पार पर मै पड़ी,
प्यासी मरती हूँ ! हाय ! इतना अभाग्य भी
भव में किसी का हुआ ? कोई कही ज्ञाता हो,
तो मुझे बता दे हा ! बता दे हा ! बतादे हा ![1]

इतना कहते कहते यशोधरा मूर्छित हो जाती है। सहृदय पाठक सहज ही अनुभव कर सकते हैं कि यह मूर्छा गोपा की उस

---

१ यशोधरा पृ० १७६, १८०।

नाजुक मानसिक परिस्थिति की चरम सीमा थी जिसमें उसके आत्म-गौरव की भावना और विरह-वैधुर्य की अपार वेदना के बीच घनघोर अन्तर्द्वन्द्व छिड़ा था। स्वाभिमानिनी यशोधरा जाय तो कैसे! और विरह-विधुरा यशोधरा न जाय तो कैसे! उसकी मूर्छा इसी मानसिक विप्लव के विक्षुब्ध का प्रतिमूर्त्तरूप है, इसी के आवरण में उसके व्यक्तित्व का अतीत इतिहास छिप-सा गया। अन्यों के साथ वह स्वागत के लिये भले ही न गई हो, उसका शरीर भले ही जहाँ का तहाँ रह गया, किन्तु उसकी आत्मा ललक कर अपने पतिदेव का स्वागत करती ही है।

> पर मैं स्वागत-गान करूँगी,
>
> पाद-पद्म-मधु-पान करूँगी [1]।

ऐसी विषम परिस्थिति में भगवान बुद्धदेव स्वयं गोपा के समीप आकर मानों अपने स्खलित का प्रायश्चित्त करते हैं और सती गोपा के आत्म-गौरव की रक्षा करते हैं।

> मानिनि! मान तजो, लो,
>
> रही तुम्हारी बान [2]!

भगवान बुद्ध के इस उदार आत्म-समर्पण और अवनमन से सती गोपा का हृदय पिघल उठता है और प्रति-समर्पण की

---

१ यशोधरा पृ० १८१।

२ " पृ० २०७।

भावना से बोल उठता है—

पधारो भव भव के भगवान !
रख ली मेरी लज्जा तुमने, आओ अत्र भवान !
नाथ, विजय है यही तुम्हारी,
दिया तुच्छ को गौरव भारी।
....
होकर महा महान[1] !

गुप्तजी ने 'गर्विणी गोपा' और 'शुद्ध बुद्ध भगवान' के इस अपूर्व संमिलन द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि करुणाजनक परिस्थिति में भी स्वत्वाभिमान की रक्षा की जा सकती है और प्रेम के राज्य में विजय और पराजय की केवल सापेक्ष सार्थकता है। गोपा की विजय में गोपा की पराजय भी निहित है और बुद्ध भगवान की पराजय में बुद्ध भगवान की विजय भी। जैसा एक दूसरे प्रसंग में ('साकेत' में) कवि ने स्वयं लिखा है—

प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है।
हार में जिसमें परस्पर जीत है[2] !

---

१ यशोधरा पृ० २०८।

२ साकेत पृ० १७।

राहुल का कथानक की माला में पिरोया जाना गुप्तजी की भावुकता की मनोवैज्ञानिकता का परिचायक है। राहुल के चरित्र के मध्य बिन्दु पर केन्द्रित हो कर यशोधरा के पत्नीरूप और मातृरूप के बीच एक अन्तर्द्वन्द्व, एक कशमकश, एक 'टग-आफ-वार'-सा (Tug of war) छिड़ा हुआ है। विरहविकला पत्नी यशोधरा के संमुख जब 'मरण' 'सुन्दर' बन कर आता है तो उसका जननी-हृदय उसके मार्ग में काँटे बिछा देता है और वह लौट कर चला जाता है। कर्तव्यभावना निरी भावुकता पर विजयिनी होती है। उसके जीवन-प्रांगण में सुख-दुख आँखमिचौनी खेलने लगते हैं, हँसने और रोने की सीमान्तरेखा विलुप्त हो जाती है।

राहुल कहता है—

गाती है मेरे लिये, रोती उनके अर्थ
हम दोनों के बीच तू पागल-सी असमर्थ
रोना गाना बस यही जीवन के दो अंग
एक संग में ले रही दोनों का रसरंग[1]।

माँ भी स्वर में स्वर मिला कर बोलती है-

रुदन का हँसना ही तो गान
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान[2]।

---

१ यशोधरा पृ० १६७।

२ „ पृ० १३५।

यह 'रुदन का हँसना ही तो गान'-वाली अवस्था निरी अनवरत रुदनावस्था से कहीं अधिक मार्मिक और सकरुण है। एक पग और—फिर बावलापन और बेसुधी! 'रुदन की यह हँसी, रोती हुई हृत्तन्त्री की यह तान सांनिपातिक हँसी और सांनिपातिक गान है। फिर भी यशोधरा ने जिस धीरता के साथ विरह-सागर का संतरण किया वह सराहनीय है। यशोधरा की इस धीरता की ओर संकेत करते हुए 'गिरीश' ने लिखा है कि—

"वास्तव में सच बात तो यह है कि उर्मिला के आँसुओं पर यशोधरा को अधिकार होना चाहिये था, और यशोधरा की उच्च कल्पना और उच्च अनुभूति उर्मिला को मिलनी चाहिये थी"[1]।

'यशोधरा' के नायक *सिद्धार्थ* गौतम की मनोवृत्ति में भी जो क्रान्ति हुई, और जिसके चित्रण से काव्य का आरंभ होता है, उसका आधार कारुण्य ही है। युवक राजकुमार सिद्धार्थ ने शिथिल और जराजीर्ण शरीर की निस्सहाय अवस्था देखी, और सोचा—क्या इस कांचन की-सी तरुणी यशोधरा की दमकती द्युति भी इसी तरह मिट्टी में मिल जायगी! क्या इस जरा से बचने का कोई उपाय नहीं! क्या सौन्दर्य के सारे हरे भरे उपवन इसी तरह सूख जायँगे!

---

१ गिरीशः गुप्त जी की काव्यधारा पृ० २८१।

भावुक हृदय सिद्धार्थ के मानस-पटल पर जरा की कारुणिकता एक अमिट छाप छोड़ गई, और छोड़ गई एक तीव्र कसक।

इसी प्रकार अपने राज भवन की चहारदिवारी से निकल कर राजकुमार ने विषम व्याधि-ग्रस्तों को चीखते कराहते पाया। युवक ने अपने मन से पूछा—क्या इन रोगों पर मानव विजयी नहीं हो सकता! क्या वह अनायास ही इनके सामने बलि का बकरा बन जाय! रोगियों की करुणाजनक परिस्थिति सिद्धार्थ के मानस-पटल पर अमिट छाप छोड़ गई, और छोड़ गई एक तीव्र कसक!

इसी प्रकार एक तीसरे अवसर पर मृत्यु का दर्द-नाक दृश्य! गौतम ने सोचा—क्या मेरा सारा भविष्य मेरे सारे अरमानों को पहलू में दबाए हुए इसी तरह काले बादल के एकही झोंके से तिमिराच्छन्न हो जायगा! क्या इस नश्वर शरीर से परे कोई सत्ता नहीं! क्या इस संसार के सभी घट इसी तरह रन्ध्रपूर्ण हैं! यम की दुर्दमनीय नृशंसता और उसके सामने बड़ी से बड़ी मानव विभूतियों की अवशता गौतम के कोमल चित्त पर एक अमिट छाप छोड़ गई, और छोड़ गई एक तीव्र कसक!

इसी कसक के साथ गुप्त जी की भावुकता ने तादात्म्य-संबंध स्थापित कर के उन्हें अपनी कविता के सूत्र में 'करुण कथाओं की मृदु कलियाँ' पिरो कर एक सुन्दर-सी माला प्रस्तुत करने को प्रेरित किया। सिद्धार्थ अपनी पत्नी, अपना पुत्र, अपना धन-वैभव सब पर लात मार कर घर से निकल पड़ा।—

मैं त्रिविध-दुःख-विनिवृत्ति-हेतु
बाँधूँ अपना पुरुषार्थ-सेतु
सर्वत्र उड़े कल्याण-केतु
तब है मेरा सिद्धार्थ नाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम[1]।

तात्पर्य यह कि चाहे सिद्धार्थ, चाहे यशोधरा, चाहे राहुल-सब का चरित्र कारुण्य के चित्र-पट पर अंकित किया गया है; और कारुण्य की ही तूलिका से; और गुप्तजी ने इस अंकन में जो सफलता प्राप्त की है उसका मुख्य कारण है उनकी भावुकता, उनकी तादात्म्यभावना, उनकी वह 'मैं-शैली' जिसके संबंध में एक आधुनिक छायावादी कवि ने यों लिखा है—

मैंने 'मैं-शैली' अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे
झट उमड़ वेदना आई।

'यशोधरा' के काव्यगत कारुण्य में हम कवि के हृदयगत कारुण्य की स्पष्ट प्रतिच्छाया पाते हैं।

---

१ यशोधरा पृ० १४।

१४

'साकेत' की आलोचना करते समय जो सब से पहली बात बतलाई जाती है, वह यह है कि काव्य जगत् की उपेक्षिता उर्मिला के प्रति इस काव्य में न्याय किया गया है। और बात भी ठीक है। उर्मिला-सौमित्रि के हास-परिहास से काव्य का सूत्र-पात होना भी इसी दिशा को द्योतक है। किन्तु यहाँ पर एक बात का ध्यान रहना चाहिये—राम और सीता के प्रति जो कवि का पक्षपात है, वह लक्ष्मण और उर्मिला के चरित्र के पूर्ण विकास में बाधक सिद्ध हुआ है। 'साकेत' के मुखपृष्ठ पर हम देखते हैं—

राम ! तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।

किन्तु यदि उर्मिला की प्रधानता अंकित करनी थी तो उसी

केन्द्रीय भावना को मुखपृष्ठ पर गौरवित करना चाहिये था। यदि 'यशोधरा' में—

अबला ! जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी—वाले पद्य को प्रतीक माना गया है तो 'साकेत' में भी—

पुरदेवी सी यह कौन पड़ी
उर्मिला मूर्च्छिता मौन पड़ी
किन तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई
यह कुमुद्वती जल भिन्न हुई ?
सीता ने अपना भाग लिया
पर इसने वह भी त्याग दिया।—[1]

इसी तरह का कोई पद्य गौरवान्वित करना चाहिये था।

'गिरीश' ने 'साकेत' में राम और सीता की अत्यधिक प्रधानता की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

"कवि के प्रस्तुत प्रबंध में तो राम और सीता ने महाकाव्य के सत्य को भी अधिकृत कर लिया है और उनके गान को भी, बेचारी उर्मिला के हाथ में एक फूटी ढोल दे दी गई है, जिससे बेसुरी आवाज निकलती है।"[2] उर्मिला की ढोल फूटी है या सुरीली—इसकी विवेचना अपेक्ष्य नहीं है; किन्तु इसमें सन्देह

---

१ साकेत पृ० १४३।

२ गिरीशः गुप्तजी की काव्यधारा पृ० २४७।

नहीं कि राम और सीता के चित्रण में गुप्त जी के भक्त ने गुप्तजी के कवि पर प्रबलता प्राप्त कर ली है।

अपने राम को मानवता के स्तर से ऊँचा उठा कर कवि ने अऋजु रूप से उर्मिला के प्रति अन्याय किया है। उर्मिला मानवी है, उसके हास्य और रुदन, सुख और दुख के साथ हम ऐक्य अनुभव कर सकते हैं। किन्तु 'साकेत' के राम अति-मानव हैं। 'हरिऔध' और गुप्तजी में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम ने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण को मानवता की कोटि में रक्खा है, उन्हें अधिक से अधिक 'नृरत्न' की उपाधि दी है; वहाँ द्वितीय ने अपनी परम्परागत अवतार-भावना को अक्षुण्ण रक्खा है। 'हरिऔध' के परिवर्त्तित मत के अनुसार 'अवतार' ईश्वर के मनुष्य तक उतरने की मध्यम कड़ी (middle link) नहीं है, बल्कि मनुष्य के ईश्वर तक पहुँचने की। अर्थात् मनुष्य होते हुए जो आदर्श चरित्र का चरम रूप दिखला सके, वही 'अवतार' है; वही ईश्वरत्व के पथ पर अग्रसर है"। * किन्तु गुप्तजी के राम वस्तुतः ईश्वर हैं और लीला के उद्देश्य से भूतल पर अवतीर्ण हुए हैं—

हो गया निर्गुण सगुण-साकार है
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।[1]

---

* 'हरि औध' का 'प्रियप्रवास'—लेखक द्वारा। पृ० ७०।

1 साकेत पृ० १।

कवि ने अन्यत्र भी लिखा है--

कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं
है स्वतंत्र मेरा भगवान।[1]

किन्तु 'हरिऔध' ने ठीक इसी भावना और इन्हीं शब्दों का स्पष्ट प्रतिरोध किया है 'प्रियप्रवास' की भूमिका में।

माना कि 'साकेत' के राम ने इस मर्त्यलोक को पुण्यलोक बनाने की ठानी थी--

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।[2]

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये भगवान को अपने सातवें आसमान से उतरना अनिवार्य है? क्या मानव-विभूतियाँ ऐसा करने में असमर्थ हैं? माना कि राम संसार के उपकार के उद्देश्य से आए थे--

मै आर्यों का आदर्श बताने आया
जन-संमुख धन को तुच्छ जताने आया
सुख-शान्ति-हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।

---

१ झंकार पृ० ५९।

२ साकेत पृ० २१८।

पुनश्च—

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया[1]।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या नर को ईश्वरता प्राप्त कराने के लिये किसी ईश्वर का अपना ईश्वरत्व त्याग कर अवतार लेना अनिवार्य है? गुप्तजी का उत्तर है-'हाँ'; 'हरिऔध' जी कहेंगे-'नहीं'। पाठक की भावना चाहे जो पसंद करे, किन्तु हमारा निजी विचार है कि हम एक अवतार लेकर आए हुए ईश्वर से अपना नाता उतना नहीं जोड़ सकते, जितना उससे, जो हम मानवों में ही जन्म लेकर, हमारी ही कोटि में रहकर, हमसे ऊँचा उठ कर एक सम्भाव्य आदर्श प्रस्तुत कर सके। 'साकेत' के राम भले ही हमारी धार्मिक भावना के म्यूजियम की संचनीय संपत्ति हों, किन्तु सम्भवतः वे हमारे दैनन्दिन जीवन के पथ पर मशाल नहीं जला सकते। जब लक्ष्मण ने अपने भाई से कहा था कि—

पर हम क्यों प्राकृत-पुरुष आपको मानें?
निज पुरुषोत्तम की प्रकृति क्यों न पहचानें?[2]

तो यहाँ 'पुरुषोत्तम' का अर्थ 'नररत्न' या 'महात्मा' नहीं समझ लेना चाहिये। 'पुरुषोत्तम' से अभिप्राय है साक्षात् ईश्वर से-अथवा, अधिक से अधिक, ईश्वर के अवतार से। लक्ष्मण ही

---

१ साकेत पृ० २१७।

२ ,, पृ० २२२।

के समान हम 'प्राकृत-पुरुष' इस ऊँचाई तक पहुँचने में सर्वदा और सर्वथा असमर्थ ही रहेंगे।

फिर भी, और जिस रूप में भी, गुप्तजी ने *राम* को चित्रित किया हो, विचारणीय यह है कि उनके जीवन का कौन-सा रूप कवि की भावुकता का प्रेरक हुआ है—हर्षमय अथवा कारुण्य-कलित। इस प्रश्न का उत्तर इसी से जाना जा सकता है कि साकेत की कथावस्तु का आरंभ राम की जीवन-रेखा के उसी बिन्दु से होता है, जहाँ से उन्हें निर्वासन, जायापहरण और आयोधन के कष्टों को झेलते हुए चौदह वर्षों तक जंगलों और पहाड़ों की खाक छाननी पड़ती है; और अन्त उसी बिन्दु पर हो जाता है, जहाँ से सुख-समृद्धि और राजत्व का आरंभ होता है—अर्थात् लंका से लौटने के साथ ही। इससे यही सिद्ध होता कि कवि की कल्पना को राम के जीवन का यही दुखद अंश प्रिय है। तृतीय सर्ग के आरंभ में ही हम यह देखते हैं कि दिनों की मनोकामना मिट्टी में मिल गई, राजा और प्रजा सबों की अभिलाषाओं पर पानी पड़ गया और—

जहाँ अभिषेक-अंबुद छा रहे थे
मयूरों-से सभी मुद पा रहे थे
वहाँ परिणाम में पत्थर पड़े यों
खड़े ही रह गये सब थे खड़े ज्यों [1]।

---

1 साकेत पृ० ५२।

यहाँ से लेकर काव्य के अन्त तक राम का जीवन एक तापस और योद्धा का जीवन है,—राजभवन से दूर! घने जंगलों और भीषण रणभूमियों में! किन्तु कवि को संसार के सामने यह आदर्श दिखाना है कि इन परिस्थितियों में भी पुरुषोत्तम रामचंद्र ने कितनी धीरता और मनस्विता से काम लिया। गुप्तजी कारुणिक परिस्थितियों को लाकर अपने नायक और नायिका को उनका शिकार बनने नहीं देते। उनके पात्र उन परिस्थितियों पर विजयी होते हैं और हमारे इस जीवन के लिये संदेश दे जाते हैं। उदाहरणतः जब राज्याभिषेकोन्मुख राम को वनवास की आज्ञा मिलती है तो उनके चेहरे पर तनिक भी शिकन नहीं आती। आत्मग्लानि की आग में जलते हुए पिता से वे कहते हैं—

अरे, यह बात है, तो खेद क्या है?
भरत में और मुझ में भेद क्या है?
करें वे प्रिय यहाँ निज-कर्म पालन
करूंगा मैं विपिन में धर्म पालन[1]।

इसी तरह दूसरे प्रसंग में अपनी माता और पत्नी को स्वयं अपने वनवास की सूचना देते हैं और इन शब्दों में—

माँ, मैं आज कृतार्थ हुआ
स्वार्थ स्वयं परमार्थ हुआ।

---

१ साकेत पृ० ५७।

पावन-कारक जीवन का
मुझको वास मिला वन का।
जाता हूँ मै अभी वहाँ
राज्य करेंगे भरत यहाँ[1]।

'सीता-माता' की भी जीवन-यात्रा का वही अंश 'साकेत' में चित्रित है, जिस पर हम केवल आँसू बहा सकें। चतुर्थ सर्ग के आरंभ में कवि ने हमें *सीता* से उनकी उस दशा में साक्षात्कार कराया है, जब वे हर्ष से फूली नहीं समातीं, आनंदातिरेक से पागल-सी हो गई हैं, भावी राज्याभिषेक के संभार-संचय में व्याकुल हैं—

'माँ, क्या लाऊँ ?' कह-कह कर
पूछ रही थीं रह-रह कर
सास चाहती थीं जब जो,—
देती थीं उनको सब सो।
कभी आरती, धूप कभी
सजती थीं सामान सभी।
× × × × × × × × ×
दोनों शोभित थीं ऐसी—
मेना और उमा जैसी।

---

१ साकेत पृ० ७९।

मानों वह भूलोक न था
वहाँ दुःख या शोक न था[1]।

किन्तु क्षण भर में ही आनंद की सुनहली किरणों को विषाद के काले दानवी बादलों ने आच्छन्न कर लिया। कुछ क्षण के लिये उन्हें इस विकट सत्य पर विश्वास नहीं हुआ; पर जब राम ने स्वयं सारी परिस्थिति समझा दी, तब अचानक उनका संसार बदल गया। आनंद का समाँ करुणाजनक परिस्थिति में परिणत हो गया। परन्तु जिस प्रकार निर्वासन-निदेश सुनकर राम ने धीरता से काम लिया था, उसी प्रकार सीता ने भी इस अवसर पर हृदय में विकृति नहीं आने दी। क्षण भर में ही उन्होंने भविष्य की सारी रूप-रेखा अपने मानस-पटल पर अंकित कर ली। दुख-सुख में अपने पति की पार्श्ववर्त्तिनी बनी रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया और मन में सोचा—

स्वर्ग बनेगा अब वन में !
धर्मचारिणी हूँगी मैं
वन-विहारिणी हूँगी मैं[2]।

हुआ भी ऐसा ही। कवि ने राम-लक्ष्मण-सीता के सम्मिलित वन-जीवन को बड़ा ही मनोरम चित्रित किया है। देवर-भाभी का आमोद-परिमोदमय सम्बन्ध मानों वनवास-रूपी मरुभूमि में

---

१ साकेत पृ० ७७।

२ „ पृ० ८८।

'ओएसिस' (Oasis) का काम देता है। गंगा पार करते समय का दृश्य देखें--

बोले तब प्रभु, परम पुण्य पथ के पथी--
"निज कुल की ही कीर्ति प्रिये, भागीरथी।"
"तुम्हीं पार कर रहे आज जिसको अहो!"
सीता ने हँस कहा--"क्यों न देवर, कहो?"
"हे अनुगामी-मात्र देवि, यह दास तो!"
गुह बोला--"परिहास बना वनवास तो!"[1]

गंगा पार कर के यह निर्वासित-त्रयी तीर्थराज प्रयाग की ओर आगे बढ़ी। मार्ग में ग्राम-वधूटियाँ जुड़ आईं और सीता से प्रेम-पूर्वक मिलीं। उन्हें स्त्री-सुलभ जिज्ञासा हुई कि युवकों के साथ सीता का क्या संबंध है। उन्हों ने पूछा--

"शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं?"

सीता ने उत्तर दिया--

"गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।"[2]

इतना कह कर वे कुछ 'तरल हँसी हँस रह गईं'। *

---

१ साकेत पृ० १२८, १२९।

२ ,, पृ० १३१।

* हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि इसी परिस्थिति को तुलसी ने जिस खूबी, कलात्मकता और मनोविज्ञानिकता के साथ चित्रित किया है उसके

इसी प्रकार पद-पद पर देवर और भाभी–ये दोनों 'कलाकार' अपनी 'गीत-काव्य-चित्रावली' का सृजन करते रहे अथवा हास-परिहास की रँगीली पिचकारियाँ छोड़ते रहे। उदाहरणतः—

"वन में अग्रज अनुज, अनुज हैं अग्रणी।"
सीता ने हँस-कर कहा–"न हो कोई ऋणी।"
"भाभी, फिर भी गई न आई तुम कहीं,
मध्य भाग की मध्य भाग में ही रही।"

सामने गुप्तजी की ये पंक्तियाँ निष्प्रभ मालूम पड़ती हैं। तुलना कीजिये—
अयोध्याकांड:—

सीय समीप ग्राम-तिय जाहीं।
पूछत अति सनेह सकुचाहीं॥
....
सकुचि सप्रेम बाल मृग-नैनी।
बोली मधुर बचन पिक-बैनी॥
सहज सुभाव सुभग तनु गोरे।
नाम लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ तिनहिं सिय सैननि॥

तुलसी की ये पंक्तियाँ उस समय की सामूहिक परिस्थिति का प्रतिमूर्त-रूप-सा खींच देती हैं।

मुसकाये प्रभु, मधुर मोद-धारा बही[1]।

अष्टम सर्ग में कवि ने हमें चित्रकूट की सैर कराई है। वहाँ भी हम इस तापस-त्रितय को जंगल में मंगल करते देखते हैं। प्रकृति की अनंत निधियों के बीच बेसुध-सी सीता प्रत्येक समीर-लहरी के साथ अपनी गुनगुन स्वर-लहरी मिलाकर गाती हैं--

मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

उनके प्राणेश इस साम्राज्य के सम्राट् हैं, देवर सचिव हैं और वे हैं रानी। चित्रकूट पर्वत उनका गढ़ है। तितलियाँ अठ-खेलियाँ करती हैं, पिक और मयूर गाते हैं, कपोत नृत्य करते हैं। कलियाँ खिलने लगीं, फूल फूलने लगे, खग-मृग भी चरना भूल गए और--

सन्नाटे में था एक यही रव छाया--
'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया[2]।'

वनगमन के पहले ही जब राम ने सीता के सामने जंगल का भीषण दृश्य प्रस्तुत किया था, कि जिसमें वे अपने निश्चय से डिग जायँ, उसी समय उन्होंने कहा था कि--

मेरी यही महा मति है--
पति ही पत्नी की गति है[3]।

---

१ साकेत पृ० १३४।

२ " पृ० २११।

३ " पृ० १०३।

उन्हें यह विश्वास था कि—

यदि अपना आत्मिक बल है
जंगल में भी मंगल है[1]।

राम-लक्ष्मण-सीता को विषम और सकरुण परिस्थितियों में भी जब हम मोद मनाते देखते हैं तो हमें विश्वास होने लगता है कि मानव अपनी परिस्थितियों का प्रभु है अथवा हो सकता है। वह प्रत्येक दशा में अपना एक अनूठा संसार सृजन कर सकता है, जिसमें करुणा के मकरन्द-बिन्दु बरसते हैं, जिसमें मुक्त-गगन ही उसका भवन है, और जहाँ—

सलिल पूर्ण सरिताएँ है
करुण भाव-भरिताएँ है[2]।

'साकेत' के कारुण्य-कलित पात्रों में कैकयी का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि कैकयी के चरित्र का अभिनव सृजन-मात्र इस काव्य को अमर बनाने को पर्याप्त है। 'साकेत' की कैकयी गुप्तजी की व्यक्तिगत भावना-संसार की विशिष्ट विभूति है। कवि ने मानों उसे पुनर्जन्म दिया है, और रूपान्तरित करके। राजकुल-प्रसूता, पतिपरायणा राज्ञी कैकयी निसर्गतः दुष्ट हो—यह कल्पना

---

१ साकेत पृ० १०१।

२ „ पृ० १०१।

सम्भवतः किसी को प्रिय न होगी और न सहजतया ऐसी आशा की जा सकती है। यदि ऐसी ही बात होती तो राजा दशरथ के अनन्य प्रेम की भागिनी वह क्यों होती? 'रामचरितमानस' में भी तुलसी ने कैकयी की मनोवृत्ति की विकृति का कारण ठहराया है देवताओं के षड्यंत्र को। देवता सरस्वती के यहाँ जाते हैं और कहते हैं कि ऐसा उपाय किया जाय जिससे रामचन्द्र का वनवास हो, नहीं तो दानवों का विनाश कौन करेगा। सरस्वती इस विचित्र अभ्यर्थना को सुन कर पश्चात्ताप करने लगती हैं और उन 'ऊँच निवास नीच करतूती'वाले देवताओं के मनोनुवर्त्तन के उद्देश्य से अयोध्या आती हैं तथा–

नाम मंथरा मंदमति, चेरि कैकयी केरि।
अजस पिटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥

इस बुद्धि-विपर्यय के प्रभाव में आकर मंथरा हर्षोन्मत्त कैकयी के पास जाती है और ईर्ष्या का भाव जागरित करना चाहती है। किन्तु रानी उसे फटकार कहती हैं--

पुनि अस कबहुँ कहसि घर-फोरी।
तौ धरि जीभ कटावौ तोरी॥

क्योंकि—

प्राण ते अधिक राम प्रिय मोरे।

गुप्तजी ने भी कैकयी का पूर्वरूप वैसा ही उदात्त चित्रित

किया है। मंथरा की दुर्मन्त्रणा पर वे नागिन-सी फुफकार उठती हैं—

दूर हो, दूर अभी निर्बोध !
सामने से हट, अधिक न बोल,
द्विजिह्वे, रस में विष मत घोल[1]।

क्रमशः, मंथरा के अत्यन्त अधिक शपथ, सफाई और कहने-सुनने का प्रभाव उनपर पड़ ही जाता है। परिस्थिति भी सहारा देती है; उन्हें आशंका होती है कि उनके निश्छल पुत्र के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र रचा गया है, नहीं तो राज्याभिषेक के अवसर पर उनकी अनुपस्थिति क्यों !

भरत-से सुत पर भी सन्देह
बुलाया तक न उन्हें जो गेह !
....
गूँजते थे रानी के कान
तीर-सी लगती थी वह तान—
भरत-से सुत पर भी सन्देह
बुलाया तक न उन्हें जो गेह[2] !

फलतः वे कोप-भवन में जाती हैं, राम-वनवास-रूपी वरदान

---

१ साकेत पृ० ३०।
२ „ पृ० ३२।

माँगती हैं और राजपरिवार और प्रजा के अभिशाप की पात्री होती हैं—

एहि विधि विलपहि पुर नर नारी।
देहि कुचालिहिं कोटिक गारी॥
(रामायण)

इस प्रसंग के उद्धरण से स्पष्टतः विदित हो जाता है कि कैकयी स्वभावतः सरल और राम-वत्सल थीं और उनकी मति फिरने का कारण तात्कालिक अदृष्ट दैव-षड्यन्त्र था। हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि देवताओं का प्रभाव कैकयी पर भी पड़ा था, क्योंकि यदि मंथरा प्रभावित हो ही जाती, और कैकयी न होतीं, तो उनलोगों का सारा आयोजन विफल जाता। ऐसी दशा में कैकयी की अल्पकालीन मानसिक विकृति के लिये उन्हें अनंत भविष्य के लिये कलंक के कठोर कारागार में विक्षिप्त कर देना कहाँ तक उचित था—यह विचारणीय है। क्या कैकयी की जन्म-सिद्ध सद्भावनाएँ मंथरा-मन्त्रणा के एक ही झोंके में सर्वदा के लिये अस्त-व्यस्त हो गईं? क्या राम के वन चले जाने पर, देवताओं के मनोरथ पूर्ण हो जाने पर, और पति के अस्त होजाने पर भी उनकी मनोवृत्ति ज्यों की त्यों बनी रही? और सबसे बढ़ कर तो यह, कि क्या जिसके लिये सोने का संसार सजाया गया, उसी पुत्र भरत ने जब उसे पैरों से ठुकरा दिया और उनकी कटुतम भर्त्सनाएँ कीं, तब भी उन्हें अपने किये पर अनुताप न हुआ और सद्वासनाएँ न जागीं? मनोविज्ञान

के विद्यार्थी के नाते हमें यह उमीद करनी चाहिये थी कि माता कैकयी के जीवन में इन आशातीत दुर्घटनाओं का क्रान्तिकारी प्रभाव अवश्य हुआ होता !

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त की अनायास भावुकता और प्रकृति पर्यवेक्षण ने उन्हें इस मनोवैज्ञानिक असंगति का परिशोधन करने को बाध्य किया। उन्हों ने सोचा—कैकयी क्या उर्मिला से कम काव्य-जगत की उपेक्षिता रही है ?—वह तो उपेक्षिता ही नहीं, वरन् अधिक्षिप्ता भी रही है। अतः उन्हों ने निश्चय किया कि 'साकेत' में कैकयी के काव्य-शरीर के इस पंक का प्रक्षालन करना ही है।

फलतः चित्रकूट में हम कैकयी को जिस रूप में पाते हैं उसे हृदयंगम कर के हम द्रवित हो उठते हैं। अनुताप और आत्म-भर्त्सना की प्रतिमूर्त्ति कैकयी! पाप-परिशोध को लालायित कैकयी! अनन्य-वत्सलता का आदर्श कैकयी!

सभा बैठी है। भगवान रामचन्द्र भरत के आगमन का कारण पूछते हैं—

हे भरत भद्र ! अब कहो अभीप्सित अपना।

भरत ने जो उत्तर दिया है वह व्याकुल अन्तःकरण के विकल उद्गार का नमूना है।—

हे आर्य ! रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी ?

....

तन तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?

....

मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुँह फेरा
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा[1]।

इन हृदय के मसोस-भरे कटु-मृदु उद्गारों में *अभीप्सित* पद की बार बार कलात्मक आवृत्ति भरत की करुणार्द्र भावना को मानों पाठक के हृदय में कीलित-सी कर देती है।

कैकयी से भी रहा न गया। वे अपने को सँभाल न सकीं। मनस्ताप की धारा वाङ्मय हो कर फूट चली—

हाँ, जनकर भी मैंने न भरत को जाना
सब सुनलें, तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।

....

थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?
छीने न मातृ-पद किन्तु भरत का मुझसे
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे ?

---

१ साकेत पृ० २२९, २३०।

आत्मग्लानि के आवेश में वे क्या क्या न कह देती हैं—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में थी एक अभागिन रानी।'"[१]

यह ठीक है कि अपनी अनन्त अनुनय-विनय पर भी वे रामचन्द्र को अयोध्या नहीं लौटा सकीं, क्योंकि—

पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है
लौटा कर वह कब कहाँ लिया जाता है ?[२]

किन्तु संसार को संदेह नहीं रहा कि माता कैकयी का हृदय महान है:—शुभ्र चन्द्र को क्षणभर के लिये राहु ने ग्रस लिया था; ग्रहण कटा और फिर वही ज्योत्स्ना, वही नैसर्गिक सुषमा ! सचमुच जिस कलंक की कालिमा को वाल्मीकि नहीं धो सके, कालिदास नहीं मिटा सके, तुलसीदास नहीं दूर कर सके, उसे गुप्तजी ने सदा के लिये परिमार्जित कर के हिन्दी साहित्य को 'साकेत' के रूप में एक अमूल्य निधि भेंटी है और कैकयी के चरित्र के कारुण्य को एक नई गति-विधि (orientation) दी है।

पाठक अब काव्य की मुख्य पात्री उर्मिला की ओर ध्यान दें। प्रथम सर्ग में, और सर्वतः प्रथम, हमारा परिचय इसी 'सजीव

---

१ साकेत पृ० २३२ ।

२ „ पृ० २३९ ।

सुवर्ण की प्रतिमा' से होता है। प्रासाद में खड़ी इस सुन्दरी की रूप-राशि का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला
नाम है इसका उचित ही 'उर्मिला'[1]।

उर्मिला के 'प्रणय-सेवी' लक्ष्मण और लक्ष्मण की 'हृदय-देवी' उर्मिला—दोनों हास-परिहास, आमोद-प्रमोद, व्यङ्ग्यभंगि में तल्लीन हैं। यौवन-सुलभ चाञ्चल्य की तरंगों ने, प्रणय के आदान-प्रदान की मृदुल उर्मियों ने उर्मिला को यथार्थतः उर्मिला बना दिया है। इस नवोढ दम्पती के आनन्द का इन्द्र-धनुष राम के राज्याभिषेक की अरुण किरणों के सहारे क्षितिज की अनन्तता को भी नांघ गया है। परिरम्भण के प्रतिक्रिया-स्वरूप अनंतायमान आनंद की लहरियों से उद्वेलित दो हृदय दिन निकलते एक दूसरे से विदा लेते हैं।

हर्ष और आनंद की इस पृष्ठभूमि पर जब हम लक्ष्मण और उर्मिला के पश्चाद्वर्ती वियोग का चित्र अंकित पाते हैं तो उनकी वेदना के प्रति हमारी सम-वेदना उमड़-सी आती है। कहाँ ये सुख के सपने! और कहाँ वे विरह की भीषण रातें! षष्ठ सर्ग में कवि हमें विरह-विह्वला उर्मिला की एक झाँकी देता है। उसे खेद यह है कि वह भी अपने नाथ का साथ क्यों न दे सकी। किन्तु फिर भी वह यह नहीं चाहती कि उसकी चिंता उसके पति के कर्त्तव्यमार्ग में कंटक बन जाय। वह खून की घूँट आप पी लेगी।

---

१ साकेत पृ० १२।

कितनी उदारता ! आज तक सदियों से हमने सीता की ही याद करके रोना सीखा था। किन्तु गुप्तजी ने हमें उर्मिला के लिये रोना सिखलाया है। सीता और उर्मिला के कारुण्य की तुलना की दृष्टि से कवि की ये दो ही मार्मिक पंक्तियाँ पर्याप्त हैं—

सीता ने अपना भाग लिया
पर इसने वह भी त्याग दिया[1]।

सीता को तो अपने पति के साथ रहने का अवसर मिला—मिला दुख-सुख में संगिनी बनने का मौका; किन्तु उर्मिला को अपने पति के साथ कदम में कदम मिला कर जंगल की खाक छानने का भी सुयोग नहीं मिला।—

मरण जीवन की यह संगिनी
बन सकी वन की न विहंगिनी।

कितना महान अन्तर है दोनों की दशाओं में ! यदि उर्मिला-पति-प्रेम-पात्री उर्मिला—जी भर कर रोवे तो इसमें क्या आश्चर्य ! महात्मा गांधी को भले ही उर्मिला की अतिविकलता अप्रिय हो, किन्तु गुप्तजी को तो इसी का गर्व है—

करुणे, क्यों रोती है? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति है जो, उसको 'भव-भूति' क्यों कहे कोई'[2]?

---

१ साकेत पृ० १४३।

२ „ पृ० २५०।

गुप्तजी को भवभूति से होड़ लगी है, अन्तर इतना ही है कि 'उत्तररामचरित' में सीता रोती है और 'साकेत' में उर्मिला। नवम सर्ग के आरंभ में कवि बतलाता है कि—

मानस-मंदिर में सती, पति की प्रतिमा थाप
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप[1]।

प्रेमोपासिका उर्मिला अपने मन-मन्दिर में अपने आराध्य देव पति को प्रतिष्ठापित कर के आप ही आरती की ज्वाला बन कर जल रही है। त्याग और विरह की पराकाष्ठा है यह! जायसी का निम्नलिखित पद्य विरहोत्कण्ठा के उत्कर्ष के लिये प्रसिद्ध है—

यह तन जारौ छारि कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव[2]॥

किन्तु गुप्तजी की उपर्युक्त दो पंक्तियाँ भावना के उत्कर्ष की दृष्टि से कहीं अधिक तीव्र हैं। महादेवी वर्मा भी 'नीरभरी दुख की बदली' हो सकती है। किन्तु अपने आराध्यदेव के आराधन में आप ही आरती बन कर भस्म हो जाना आत्म-त्याग की चरम सीमा समझी जायगी। स्वामि-मनो-योगिनी विषम-वियोगिनी उर्मिला क्रमशः आत्म-ज्ञान खो बैठती है और बेसुधी की दशा में वह जो उद्भ्रान्त प्रलाप करती है, उसी का संग्रह है नवम सर्ग; बल्कि

---

१ साकेत पृ० २५१।

२ पद्मावत।

दशम सर्ग भी। अतीत स्मृतियों की कसक, लुटा हुआ प्यार-का-संसार और उसकी वह दयनीय दशा जिसमें उसे न 'वन' ही मिला न 'भवन' ही मिला—सभी उसकी उन्मत्तता के लिये ईंधन बन जाते हैं। प्रेम का पुष्प कुड्मलित भी न हो पाया था कि बिखर गया। वह यह सोच कर सहम जाती है कि—

यह विषाद ! वह हर्ष कहाँ अब देता था जो फेरी
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी ॥

....

पत्र-पुष्प सब बिखर रहे है, कुशल न मेरी तेरी
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी[1] ॥

काल्पनिक सखी से, सुरभि से, गूंगी निंदिया से, सारिका से, चकोरी से, कोकी से, चातकी से—न जाने किस किससे वह अपनी कारुण्य-कथा कहती है। उसका विरह और उसकी वेदना सारे विश्व में व्याप जाते हैं। इसीलिये तो जिस प्रकार यशोधरा कहती है कि—

मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा – व्यथा सही[2] ।—

---

१ साकेत पृ० २६० ।

२ यशोधरा पृ० १५० ।

उसी प्रकार उर्मिला भी बोल उठती है—

मेरी ही पृथिवी का पानी
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी !
मेरी ही धरती का धूम
बना आज आली, घन घूम
गरज रहा गज-सा झुक झूम
ढाल रहा मद मानी
मेरी ही पृथिवी का पानी[1]।

चंद्रमा भी अमृत किरणों से उर्मिला के करुणांकुर को सींच-सींच कर पनपाता है। शिशिर ने अपने पतझड़ और अपने कंपन को उसी से भीख ली है। उसके हृदय की हूक ही कोयल की कूक बनी है। मलयानिल को यह आशंका है कि कहीं वह उसके विरह-दग्ध शरीर से लग कर लू न बन जाय और अपने आप को ही जला न डाले। जब उर्मिला यह सोचती है कि उसके दुखो का अन्त तब तक न होगा जब तक यह भूमि 'चौदह चक्कर' नहीं लगा लेगी, तो वह सहम जाती है। व्याकुलता की दशा में वह माता सरयू के पास जाती है—उससे न जाने कितनी अतीत स्मृतियाँ कह सुनाती है; उसके साथ हँसती है, रोती है, सम-वेदना प्रकट करती है और कभी अपनी और उसकी दशा में तुलना कर मसोस जाती है—

---

१ साकेत पृ० २७५।

गति जीवन में मिली तुझे
सरिते, बंधन की व्यथा मुझे[१]।

सरयू भी तो जब पितृगृह से चलने लगी थी तो उसकी वियोगवेदना अनंत धाराओं में फूट पड़ी थी, उसका हृदय द्रवित हो उठा था! किन्तु अब मिलन की अनन्त आशाएँ लहरें बन कर उसके वक्षस्थल पर थिरक रही हैं! पर उर्मिला की आशाओं की चन्द्रकिरणों को चिरवियोग के राहु ने ग्रस रक्खा है। यशोधरा के समान उर्मिला भी पीछे चल कर रुदन और गान की सीमान्तरेखा पर अधिष्ठित होती है।—

मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ[२]!

अथवा—

यही रुदन है मेरा गान
हे मेरे प्रेरक भगवान[३]!

किन्तु यशोधरा की रुदन-गानावस्था का जो मनोवैज्ञानिक आधार है—राहुल रूपी थाती—उसका 'साकेत' में अभाव है। 'साकेत' के अपने निजी गुण हैं;—काव्य-कला में, पद-

---

१ साकेत पृ० ३६७।
२ ,, पृ० ३०६।
३ ,, पृ० ३२२।

लालित्य में, छन्दों के विविध विधान में और कल्पना की उड़ान में यह 'यशोधरा' से कहीं उत्कृष्ट है, किन्तु मुख्य पात्री के चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता में 'यशोधरा' का पल्ला भारी रहेगा।

दूसरी बात यह कि हमें महात्मा गांधी के साथ सामूहिक दृष्टि से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि "इस युग की पुस्तक में ऐसा रुदन नहीं भाता।" रघुकुल-तिलक महाराज दशरथ का भी स्त्रैण-वैक्लव्य संभवतः हमारी भावना के अनुकूल नहीं है। यह तो ठीक है कि उनके सामने कैकयी ने एक अत्यन्त विषम समस्या खड़ी कर दी थी।—

वचन पलटें कि भेजें राम को वन में
उभयविध मृत्यु निश्चित जानकर मन में
हुए जीवन-मरण के मध्य धृत-से वे
रहे बस अर्ध-जीवित, अर्ध-मृत-से वे[1]।

किन्तु विचारना यह है कि क्या इतनी विकलता क्षत्रिय-वीर नृपराज को शोभा देती है? वे अत्यन्त ही दीन, कातर भाव से लक्ष्मण को आमन्त्रित करते हैं कि वह उन्हें बन्दी बना ले और राज्याभिषेक सम्पन्न होने दे; उसी प्रकार रामचन्द्र से भी कहते हैं कि यदि वे पिता की प्राण-रक्षा चाहते हों तो—

न मानो आज तुम आदेश मेरा।

---

१ साकेत पृ० ५१।

अन्त में आत्मभर्त्सना से बोझिल और करुण क्रन्दन से पंकिल राजा दशरथ के प्राण उनके शरीर से बिदा लेते हैं। अब प्रश्न यह है कि-क्या केवल बुढ़ापे की ओट में हम राजा की अतिशय कातरता को छिपा सकते हैं और उनसे असंगत और अनर्गल बातें बुलवा सकते हैं? हमारा नवयुग राजा दशरथ के परम्परागत चरित्र में परिष्कार चाहता है और गुप्तजी ने भी इसे अंशतः स्वीकार किया है; महात्मा जी के पत्र में दशरथ का आँसू यथासाध्य पोंछने की प्रतिज्ञा भी की है।

उर्मिला का अतिरुदन तो सर्वप्रत्यक्ष है। नवम और दशम सर्गों के कुल के कुल लगभग सवा सौ पृष्ठ उर्मिला के ही आँसुओं से गीले हैं। हमारा अनुमान है कि कारुण्य का अतिशय भी कारुण्योत्पादन का बाधक होता है। उचित आयाम में करुणाजनक दृश्य का वर्णन हमारी हृत्तन्त्री को झंकृत-प्रतिझंकृत कर के हमें उसकी अनुभूति के लिये जागरूक बनाए रखता है। किन्तु यही वर्णन यदि अतिविस्तृत हो जाय तो हमारी भावुकता पर पहले तो ठेस लगेगी, किन्तु पीछे उसकी चेतना मंद पड़ जायगी। 'साकेत' के नवम सर्ग में भी हमारी भावुकता इसी प्रकार क्रमशः शिथिल होती जाती है और ऐसा भान होने लगता है मानों रंग-बिरंगे छंदों की प्रदर्शनी का साधन बनाया गया हो उर्मिला-विलाप। नवम के बाद जब दशम में भी हम आँसू के ही प्रवाह देखते हैं, तो यह निश्चय-सा हो जाता है कि कवि को इतने रुलाने से भी सन्तोष नहीं हुआ।

उसे तो यह गर्व है कि उर्मिला के विरहानल में तप्त होकर उसका काव्य-कंचन चमक उठा है—

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के[1]।

उर्मिला के कारुण्य से गुप्त जी को मोह है। उन्हों ने महात्मा जी को लिखा—"वह (उर्मिला) तो आप के लिये बकरी का दूध भी लाना चाहती है। परन्तु डरती है कि उसमें कभी पानी मिला देख कर आप यह न कह दें कि—छोड़ा मैंने बकरी का दूध भी। पानी, हाँ, आंखों का पानी। बहुत रोकने पर भी एक आध बार वह टपक पड़ा तो बापू दूध से भी गए"। सारांश यह कि उर्मिलारुदन को कवि ने जान बूझ कर अतिरंजित किया है।

एकादश सर्ग में हम जटा और प्रत्यंचा के अपूर्व समन्वय से विशिष्ट भरत को और उधर पीतांबरधारिणी तपस्विनी मांडवी को देखते हैं। दोनों राज-भवन और राजसत्ता के अधिकारी होते हुए भी पुष्करपलाशवत् निर्लिप्त हैं। फिर भी आत्मलांछन की टीस रह-रह कर उन दोनों को व्यथित कर जाती है। भरत ने कहा—

हाय! एक मेरे पीछे ही हुआ यहाँ इतना उत्पात!

---

१ साकेत पृ० २५२।

मांडवी सुरमें सुर मिलाकर बोल उठी--

हाय ! नाथ, धरती फट जाती, हम तुम कहीं समा जाते
तो हम दोनों किसी मूल में रह कर कितना रस पाते[1] ।

हमारा निजी विचार है कि चौदह वर्षों तक साथ रह कर भी भरत और मांडवी ने जिस असिधार-व्रत की कठिन तपस्या तीर्ण की, वह हमारी सभ्यता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक है। आशा है कि जिस प्रकार गुप्तजी ने उर्मिला को विस्मृति के गहरे गर्त्त से निकाल कर उसके कारुण्य को उचित प्रधानता दी है, उसी प्रकार कोई कवि मांडवी की इस उग्र तपस्या और कारुणिक परिस्थिति को अपने काव्य का प्रतिपाद्य विषय बना कर एक और उपेक्षिता का उद्धार करेगा।

---

१ साकेत पृ० ३७४ ।

१५

गुप्तजी के पश्चाद्रचित प्रबन्धकाव्यों में 'सिद्धराज' एक ऐसा है जिसका हिन्दी संसार ने संभवतः सद् स्वागत किया है। अतः उसकी आलोचना करने के पहले संक्षेप में उसकी कथावस्तु का प्रस्तवन अनुचित न होगा।

१

विक्रम की द्वादश शताब्दी! पाटन के शासक सोलंकी सिद्ध-राज जयसिंह की जननी मीनलदे सोमनाथ दर्शन को जाती हुई मार्ग में ठहरी थी कि उसके सैन्यदल ने एक बंदी बालक के साथ उसकी माता को प्रस्तुत किया। अपराध यह था कि उसने तीर्थ-यात्रियों पर लगाए हुए राजकर का विरोध किया था। राजमाता ने निर्दोष पाकर उन्हें रिहाई दी किन्तु यह जान कर कि उसके शासक पुत्र ने देव-मंदिरों पर भी कर लगाए थे स्वयं तीव्र मन-स्ताप में निमग्न हो गई और अन्त में इस निर्णय पर पहुँची कि—

मन्दिर का द्वार जो खुलेगा सब के लिए
होगी तभी मेरी वहाँ विश्वम्भर-भावना[1]।

फलतः वहीं से पीछे लौटी जा रही थी कि जयसिंह से मार्ग में भेंट हो गई। उसने माता की इच्छा की अनुवर्त्तिता में 'कर का निदेश-पत्र' फाड़ डाला। सोमनाथ-मन्दिर के अभ्यंतर से हर्षोन्मत्त यात्रियों के कंठ बोल उठे—

हर हर महादेव ! जै जै राजमाता की[2] !

२

सिद्धराज की अनुपस्थिति में इधर मालव-नरेश नरवर्मा पाटन पर चढ़ आया। मंत्री के यह कहने पर कि 'राजा की अनुपस्थिति में लड़ोगे किससे ?' उसने उत्तर दिया कि वह तो केवल प्रतियातना के रूप में, जयसिंह का सोमनाथ-यात्रा-फल चाहता है। मंत्री ने कहा—'तथास्तु'। किन्तु जयसिंह को लौटने पर यह बात अच्छी न लगी और मालव पर आक्रमण कर दिया और नरवर्मा के रक्त से ही अपनी महत्त्वाकांक्षा की तृप्ति की। नरवर्मा का उत्तराधिकारी यशोवर्मा हुआ और उसने भी युद्ध द्वारा अपमान का प्रतिशोध करना निश्चित किया। लड़ाई

---

१ सिद्धराज पृ० २०।

२ ,, पृ० २३।

छिड़ी-वर्षों और घनघोर ! यहाँ तक कि जयसिंह को पराजय की आशंका होने लगी। किन्तु—

हार होते-होते अकस्मात् जीत हो गई[1]।

इस विजय से राजा जयसिंह 'अवन्तीनाथ' पदवी से सुशोभित हुआ।

३

इस युद्ध में मालव के सेनापति जगद्देव ने ऐसी वीरता प्रदर्शित की थी कि वह जयसिंह का प्रेम-पात्र हो गया और रण में तथा सदन में सदा पार्श्ववर्त्ती रहने लगा।

सोरठ का राना नवघन भी जयसिंह के आतंक से ऊब उठा था। किन्तु अपने जीवन-काल में वह बदला नहीं ले सका अतः अपने पौत्र खंगार पर यह भार पैत्रिक संपत्ति रूप में दिया।

इधर ऐसी घटना घटी थी कि सिन्धुराज के स्वर्ण प्रतिमा-सी पुत्री उत्पन्न हुई जिसका नाम था रानकदे। वह ग्रहदोष से सोरठ के ही एक कुंभकार-परिवार में पाली गई। इस रूपसी पर जयसिंह की भी आँखें लगी थीं किन्तु खंगार ही उसके हृदय का अधिकारी हुआ। अब क्या था ?

खौल उठा रक्त शक्तिशाली जयसिंह का।

युद्ध हुए—पन्द्रह बरसों तक ! अन्त में जयसिंह ही विजयी हुआ।

---

1 सिद्धराज पृ० ४२।

और, साथ ले गया विशाल सिर राना का
कोट के कँगूरे पर टाँगने को उसको[1]!

रानक के सतीत्व पर भी जयसिंह ने आघात करना चाहा किन्तु जगद्देव की मध्यस्थता ने उसे इस अनर्थ से बचा लिया।

४

इतनी विजयमालाओं से विभूषित होने पर भी जयसिंह माता की आँखों में खटकता ही था। प्रथम तो कारण यह था कि वह अभी तक अपुत्र था, और द्वितीय यह कि उसके पिता का जो पराभव 'सपादलक्ष-वालों' ने किया था उसका निर्यातन अभी तक न हो पाया था। उस समय 'आनासागर' की प्रसिद्धि-वाले अर्णोराज ही सपादलक्षीय थे और फलतः जयसिंह ने आक्रमण कर के अर्णोराज को बन्दी कर लिया। वह गढ़ में कैद कर लिया गया। वहीं पर जयसिंह की पुत्री कांचनदे से उसको चार आँखें हुईं और अन्त में दोनों प्रेमसूत्र में ग्रथित हुए।

५

एक पुत्र छोड़ सब पाया सिद्धराज ने!

सिद्धराज की युद्धाभिलाषा भी कालक्रम से शान्ति-पिपासा में परिणत हो रही थी। सन्धि का अवसर भी आ ही गया। महोवे के मदनवर्मा ने जब समता की सतह पर सन्धि का प्रस्ताव भेजा तो सिद्धराज ने उसका अंगीकार किया और स्वयं महोवे में

---

1 सिद्धराज पृ० ७१।

जा मिला। मदनवर्मा ने अभिनंदन करते हुए कहा कि वीरों का स्वागत शस्त्र से ही होता है।

यों कह उठाके पिचकारी एक सोने की
केसर में रंगभरी, देके जयसिंह को
दूसरी ले आप अविलम्ब धनी-धोरी ने
सररर धार छोड़ी! अररर करके
उत्तर उचित सिद्धराज ने दिया उसे
भींग गये दोनों एक दूसरे के स्नेह में[1]!

मदनवर्मा ने ठाकुरों की 'ठसक' के विरुद्ध जयसिंह को कुछ परामर्श दिये जिनसे उन्हें बड़ी शान्ति मिली और श्रद्धा के आवेश में यह विचारने लगा कि—

भोगी है मदनवर्मा किंवा एक योगी है[2]!

उपरिलिखित संक्षिप्त कथावस्तु के अध्ययन से यह अनुमान किया जा सकता है कि गुप्तजी की भावना का केन्द्रीय बिन्दु क्या है। 'सिद्धराज' लिखकर उन्हों ने मानों वीर रस की आँखों से आँसू चुलाए हैं। खूनों की प्यासी तलवार कथानक के अन्त में मानों प्रेम का प्रतीक हो जाती है और शोणित की लालिमा कुंकुम और गुलाल की लालिमा में परिणत हो जाती है। हमारा विचार है किसी दर्पोद्धत वीर का इस प्रकार युद्ध से विरत होना

---

१ सिद्धराज पृ० १२४।

२ „ पृ० १३२।

उदात्त कारुण्य का एक ज्वलंत चित्र है। ईसा की पूर्व-शताब्दियों में एक बार और वीर रस का ऐसा ही पतन हुआ था जब कलिंग विजय ने अशोक को सर्वदा के लिये युद्ध द्वारा भौतिक-विजय की ओर से विमुख बना कर 'हृदय-विजय-रस' का रसिक बनाया था। जिस *सिद्धराज* ने खंगार का सिर काट कर अपने कोट के कँगूरे पर लटका दिया था, जिस सिद्धराज ने एक एक कर के सभी प्रतिद्वन्द्वियों का मान-मर्दन किया था, उसीका अपनी ठाकुरी ठसक छोड़ कर मदनवर्मा से मिलना और उसके चरणों में परस्पर प्रेम की दीक्षा लेना एक ऐसी घटना है जिसका प्रभाव हमारे हृदय पर पड़ना अनिवार्य है। इस संबंध में यह तर्क किया जा सकता है कि सिद्धराज की समर-विरति शान्तरस की द्योतक है न कि कारुण्य की; किन्तु प्रथम तो यह कि शान्त रस के लिये केवल युद्ध-विरति की ही अपेक्षा नहीं है, किन्तु साथ ही साथ भगवद्भक्ति की भी अपेक्षा है। दूसरे, सिद्धराज की मनोवृत्ति में जो क्रान्ति हुई उसकी रूप-रेखा का पारिभाषिक लक्षण जो भी हो, किन्तु यह तो निर्विवाद है कि समर में असंख्य प्राणियों के संहार ने उसके हृदय में करुणा का उद्रेक अवश्य किया होगा। यही करुणा समय पाकर उसी प्रकार अंकुरित हो गई जिस प्रकार एक चिनगारी अपने ऊपर के राख के आवरण के हट जाने से ही प्रज्वलित हो उठती है।

काव्य के नायक के अतिरिक्त अन्य जो पात्र-पात्रियाँ काव्य में आई हैं उन्हें भी कवि ने प्रायः कारुणिक परिस्थितियों में ही

चित्रित किया है। यथा, प्रथम सर्ग में ही जो *वन्दिनी क्षत्राणी* अपने वीर पुत्र के साथ राजमाता के पास लाई गई उसकी वैधव्यगाथा तथा निस्सहायावस्था को सुन कर वे सिहर उठीं। किन्तु जैसा पिछले पृष्ठों में बतलाया गया है कवि का आदर्शवाद कारुणिक परिस्थितियों का विधान करते हुए भी अपने पात्रों को उनके शिकार बनने से बचा देता है, तदनुकूल वन्दिनी क्षत्राणी केवल मुक्त ही नहीं कर दी गई बल्कि राजमाता उसकी वश-वर्त्तिनी-सी हो गई।

मालव के शासक *नरवर्मा* का भी चरित्र करुणार्द्र लेखनी से ही लिखा गया है। नरवर्मा वीर था और वह जयसिंह की सेना को बरसों रोके रहा, किन्तु अन्त में उसे वीर-गति मिली। अपने देश की रक्षा में इस बहादुरी से अपने प्राणों की बलि चढ़ाना ऐसा गौरवान्वित कार्य था जिससे जयसिंह के हृदय पर भी प्रभाव पड़ा और उस पर विषाद की रेखा खिंच गई। उसने तत्क्षण युद्ध रोक दिया और अपने योग्य प्रतिद्वन्द्वी के प्रति समवेदना प्रकट की।

स्त्रीपात्रियों में *रानकदे* का चरित्र आरंभ से ही दुखद है। ग्रहदोष से वह 'स्वर्ण-प्रतिमा' सिन्धु राजकुमारी एक कुंभकार के घर में पाली पोसी गई और 'पल्वल में फूली हेम-नलिनी' के समान अनुकम्पा का कारण बनी। जब खंगार ने उसका पाणि-ग्रहण किया तो उसका सौभाग्य-सितारा चमकता हुआ दीख पड़ा, किन्तु जयसिंह की महत्त्वाकांक्षा और रूपलिप्सा राना खंगार को

क्यों कर अछूता छोड़ती ? युद्ध हुआ—घनघोर ! राना के 'छिन्न मुंड' और 'भिन्न रुंड' तक ने लड़ाई लड़ी। किन्तु जयसिंह विजयी हुआ और राना रानक को विधवा छोड़ चल बसा। बावले जयसिंह ने अपनी प्रतिहिंसा की अग्नि में राना के दो कुमारों के भी खून से अपने हाथ रंग लिये और राना का छिन्न मस्तक कोट के कँगूरे पर टँगवा दिया। रानकदे वंदिनी हुई और यद्यपि जयसिंह ने उसे पर्य्यङ्कशायिनी बनाने की चेष्टा की किन्तु सती ने अपना सतीत्व निभाया। जिस तरह भगवान कृष्ण ने द्रौपदी की लाज रक्खी थी उसी प्रकार जगदेव ने रानक की लाज रख ली। किन्तु यह सारा कथानक इतना मर्मघाती है कि उसे पढ़ कर हृदय टूक टूक हो जाता है। कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ मूर्त्तिमती करुणा बन कर लेखनी की नोक से उतर पड़ी हैं—

सोरठ की रागिनी में गूँजती है आज भी
उस हतभागिनी की पीड़ा बड़भागिनी !

अक्षय-सुहाग-भरी, त्यागभरी तान है
कितनी विराग-अनुराग-भरी मूर्च्छना[1] !

रानकदे के इतिवृत्त में 'हतभागिनी' और 'बड़भागिनी' दोनों दशाओं का संश्लेष, उसके चरित्र में एक ही साथ 'अक्षय सुहाग' और 'त्याग' का अभिनिवेश, एवं उसकी कीर्त्ति-तंत्री में साथ ही साथ 'अनुराग' और 'विराग' के संगीतात्मक संदेश का समावेश गुप्तजी-सरीखे कलाकार का ही सृजन हो सकता है।

---

१ सिद्धराज पृ० ७९।

१६

अपने अन्तिम छोटे-से प्रबंधकाव्य 'नहुष' की रचना की परिस्थिति पर गुप्तजी ने स्वयं प्राक्कथन में प्रकाश डाला है। उनके बाल्यमित्र 'मनीषीजी' की आकस्मिक मृत्यु से उनके हृदय पर एक बहुत बड़ा आघात पहुँचा और उससे सान्त्वना पाने के लिये उन्होंने रामायण और महाभारत का अध्ययन आरंभ किया। इसी अध्ययनक्रम में महाभारत के उद्योगपर्व में आए हुए नहुष-वृत्तान्त ने उनकी हृद्वीणा को हठात् झंकृत कर दिया। कालिदास ने भी 'रघुवंश' के त्रयोदश सर्ग में अगस्त्य-ऋषि की चर्चा में राजा नहुष के कथानक को अमरत्व प्रदान करते हुए लिखा है कि—

तस्याविलाम्भःपरिशुद्धहेतो-
भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम्।
भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः
प्रभ्रंशया यो नहुषं चकार॥ १३।३६

संक्षेप में कथानक यह है कि चंद्रवंशीय राजा आयुष् के पुत्र नहुष एक बड़े पराक्रमी और बुद्धिशाली राजा हुए। इसी अवसर पर असुर किन्तु ब्राह्मणकुलोद्भव वृत्र के संहार के फलस्वरूप स्वर्गाधिपति इन्द्र को प्रायश्चित्त करना पड़ा और कुछ समय जल में छिप कर रहना पड़ा।

आज सुरराज शक्र स्वर्गभ्रष्ट हो गया
और स्वर्गवैभव शची का सब खो गया[1]।

अब इन्द्र की अनुपस्थिति में स्वर्ग की राजगद्दी नहुष को दी गई। बस क्या था—स्वर्ग की अतुल विभूतियों और उर्वशी की अनुपम भ्रूभंगियों ने स्वर्ग के इस नए अधिकारी को अपने मायाजाल में फँसा लिया। इसी बीच संयोग से नहुष को 'शची की एक झलक' मिली और उसकी रूपमाधुरी की बिजली राजा के हृदयप्रदेश में कौंध गई और छोड़ गई वहाँ पर एक तीव्र तमन्ना!

क्या शक्रत्व मेरा जो मिली न शची भामिनी?
बाहर की मेरी सखी भीतर की स्वामिनी![2]

फलतः नहुष की संदेशहारिणी दूती ने इन्द्राणी के सामने स्वर्गाधिप की प्रणययाचना रक्खी। अब तो इन्द्राणी के सामने एक विषम द्विकोटिक उलझन (Dilemma) आ खड़ी हुई।

---

१ नहुष पृ० ४।

२ " पृ० ३१।

अपने पद की हैसियत से वह स्वर्गलोक के तत्कालीन अधिपति की रानी कही जा सकती थी, किन्तु अपने प्रेम और सतीत्व की हैसियत से वह तत्कालीन स्वर्गभ्रष्ट इन्द्र की प्रेयसी थी। पद और प्रेम में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा आ पड़ी थी। अतः यद्यपि पहले उसने दूती से कुछ कटु बातें कहीं, फिर भी कानूनन अपना छुट-कारा न देख चतुरता से मुक्त होने की सोची। हमने पहले भी देखा है कि कवि को अपनी स्त्री-पात्रियों के आदर्श के प्रतिपालन के लिये पक्षपात-सा है; अतः यहाँ भी पद और प्रेम के बीच जो द्वन्द्व मचा था उस पर शची को विजयिनी बनाया गया है। परन्तु साथ ही साथ अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में कवि कारुण्यभरी उक्तियों का यथावसर समावेश करने से बाज नहीं आया है। शची ने नहुष की ओर से आई हुई दूती से कहा—

सौंपा धन धाम तुम्हें और गुण-कर्म भी
रख न सकेंगी हम अंत में क्या धर्म भी[1]!

खैर, उसकी 'मंत्रणा' फली और नहुष ने स्वीकार कर लिया कि प्रथम मिलन के दिन वह सज धज कर सप्तर्षियों के कंधों पर आवेगा। सप्तर्षि लाचार थे, देवाधिदेव की आज्ञा टालते तो कैसे ? अतः चली सप्तर्षियों के कंधों पर पालकी, और चला उस पालकी पर मनोरथों के हिंडोरे में झूलता हुआ अभिनव इन्द्र। किन्तु कहाँ शिथिल-गति बूढ़े ऋषि और कहाँ नहुष की वेगवती

---

१ नहुष पृ० ३७।

उत्सुकता ! उसने सर्प ! सर्प ! (बढ़ते चलो ! बढ़ते चलो !) कहने पर भी मंद चाल चलनेवाले प्रमुख ऋषि अगस्त्य को पाद-प्रहार द्वारा उत्तेजित करना चाहा। बस ! तत्क्षण उस समुद्रजल-शोषी ऋषि की भ्रूकुटि की एक ही भंगिमा ने नहुष को इन्द्रलोक के उत्तुङ्ग शिखरों से हटा कर मर्त्यलोक की सर्पयोनि में पटक दिया।

नहुष के इस 'पतन' ने गुप्त जी के हृदय-प्रदेश में बहती हुई करुणा की अन्तर्धारा को जागरित कर दिया है और प्रस्तुत निबंध के दृष्टिकोण से काव्य का यह अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है। नहुष की आँखों का पट खुला; उसे अपनी अत्यधिकारजनित अनधिकार-चेष्टा का भीषण ख्याल आया, और छलक पड़ा आँखों का प्याला ! तीखी आत्मग्लानि के आवेश में वह कहता है—

मानता हूँ, भूल हुई, खेद मुझे इसका
सौंपे वही कार्य उसे धार्य हो जो जिसका[1] !

यदि कवि अपने कथानक की पूर्णाहुति आत्मभर्त्सना के इसी दृश्य से कर देता तो हम उसे निराशावादियों (Pessimists) की कोटि में शुमार करने को बाध्य होते; किन्तु जब कुहेसे के दल के दल निखिल व्योमवितान पर तिरस्करिणी खींच देते हैं; तो भी कभी-कभी चुपके से राका की लजीली चितवन नजर आ ही जाती है। उसी प्रकार प्रत्येक मनोविज्ञान का विद्यार्थी

---

1 नहुष पृ० ५२।

इसका साक्ष्य देगा कि कोई भी मानव-हृदय नैराश्य से संतुष्ट नहीं हो सकता; वह घने अन्धकार में भी आशा की टिमटिमाती दीप-शिखा की खोज करेगा ही। नहुष का हृदय भी आत्म-विश्वास के भावों से भर कर बोल उठता है कि—

फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूँगा मैं[1]!

नैराश्य से भरी करुणाजनक परिस्थितियों में भी आशा का सन्देश देना गुप्तजी के काव्यों की विशेषता है, और 'नहुष' भी इससे खाली नहीं है।

---

[1] नहुष पृ० ५४।

१७

'शक्ति' एक छोटा-सा प्रबंधकाव्य है—गुप्तजी की धार्मिक भावुकता का परिचायक। संक्षिप्त रूप में कथावस्तु यह है कि :-

दैत्यों के दारुण अत्याचारों से पीड़ित, और फलतः अपने ही घर-बारों में अपने अधिकारों से वञ्चित, नैराश्य-सागर में गोते लगाते हुए देवगण प्रतिकार की चिन्ता में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बने बैठे थे कि हरि ने भ्रूकुटियों में वंकता का आधान करते हुए निःशंकता के साथ उद्घोषित किया :—

जियो और जूझो, जीवन का चिह्न यही है तात
देव-यत्न ही दूर करेंगे दैत्यों का उत्पात।[1]

किन्तु ये यत्न व्यक्तिगत नहीं होने चाहियें, हमें अपना संगठन करना होगा और 'सम्मिलित शक्ति' से शत्रुओं का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि—

संघ-शक्ति ही कलि-दैत्यों का मेटेगी आतंक।[2]

---

१ शक्ति पृ. १०।
२ „ „ ११।

इतना कहना था कि विष्णु के शरीर से दामिनी-सी दमकती एक ज्योति निकली; इन्द्र, रुद्र, ब्रह्मादि सभी देवताओं के शरीर से भी शत-सहस्र ज्योतिःपुंज निकल पड़े, और उन्हीं से निर्मित हुई मूर्त्तिमती देवी महाशक्ति। फिर तो उपहार पर उपहार संभूत होने लगे। यदि क्षीर-सिंधु ने मनोहरण वस्त्राभरण दिये, तो विश्वकर्मा ने परशु भेंटा; हिम-गिरि ने वाहनार्थ सिंह को हाजिर किया, तो वनदेवी ने हरिचंदन की मंगलमयी रेखा अलिक-फलक पर खचित कर दी। तात्पर्य यह कि विश्व की सौम्य तथा रौद्र दोनों प्रकार की विभूतियाँ देवी में सन्निविष्ट हुई। सचमुच—

कैसा सुन्दर कैसा भीषण था देवी का रूप![1]

इस प्रकार सजकर दुर्गा ने महिषासुर आदि दुर्दमनीय दैत्यों का दलन किया—भीषण आघात-प्रतिघात और शोणित-पात के पश्चात्! देवों की जयध्वनि से स्वर्ग गूँज उठा और अम्बिका ने प्रतिज्ञा की कि—

उद्धत होकर असुर करेंगे
जब जब अत्याचार—
तब तब जग-उद्धार करूँगी
लूँगी मैं अवतार।[2]

---

१ शक्ति पृ० १५।
२ ,, ,, २९।

कथानक के इस अंश तक मुख्यतः वीर रस का ही परिपाक हुआ है और कारुण्य की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य के मुख्यांश की कोई विशेष महत्ता नहीं। फिर भी कथानक के शेष भाग में कवि ने कुछ ऐसी पंक्तियाँ दे ही दीं जो हमारे हृदय के मर्मस्थल को छूए बिना नहीं रह सकतीं। जहाँ उसने सुर-पुर की 'दीन-सुखी, प्यासी-सी पीड़ित मुरझी लता-समान'[१] पुरदेवी का दयनीय चित्र खींचा है और उस 'अधमरी मृगी' का वर्णन किया है जिसे कोई निषाद उसी अवस्था में छोड़ भागा था, तथा जिसे सुरपति ने सविषाद नेत्रों से देखा और तुरत छाती से लगा लिया—वहाँ बरबस हमें आदिऋषि वाल्मीकि तथा उनकी अमर-साहित्यिक कृति की मूलीभूत घटना याद आ ही जाती है। निषाद यहाँ भी; निषाद वहाँ भी! परस्पर-मिथुनित क्रौञ्च-मिथुन के प्रति आकस्मिक शर-प्रहार ने ऋषि की भावुकता पर इतना तीव्र आघात किया था कि उसके हृदय में सञ्चित मानव-समवेदना का प्याला छलक उठा था, और उस छलके हुए प्याले की उठती हुई ललित लहरियाँ कंठदेश से होती हुई रसना के अग्रभाग पर कलात्मक नृत्य करने लगी थीं। उसी दिन विश्व के आदिकवि के कंठ से काव्यजगत की आदिम एवं करुणिम पंक्तियाँ अनायास ही फूट पड़ी थीं—

मा निषाद प्रतिष्ठांस्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

---

१ शक्ति पृ० ३१।

'शक्ति' की महत्ता एक दूसरी दृष्टि से भी आँकी जा सकती है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने जब 'शक्ति' का अध्ययन किया तो उसे इस काव्य में एक अरूप रूपक-सा व्यक्त हुआ। संभवतः कविने हम भारतीयों को सुरों की भूमिका में कल्पित करते हुए हमारी नैराश्यमयी मनोवृत्ति के लिए आशा का संदेश दिया है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब तक हमारी प्रतिकूल परिस्थितियाँ हमें पनपने नहीं देतीं, तब तक हम कर ही क्या सकते हैं ? परमुखापेक्षा तो अनिवार्य ही है ? किन्तु नहीं, गुप्तजी ने इस काव्य के द्वारा हमें यह बताया है कि दूसरों के मुँह ताकने से भारत का दुख दूर होने वाला नहीं है। शक्ति हमीं में है। यदि आज करोड़ों-करोड़ भारतीय अपने तेजःपुञ्ज को पुञ्जित कर दें तो हमारी ही निहित शक्तियों से एक ऐसी महाशक्ति का संगठन होगा जो--

एक ही भ्रूभंगिमा से, एक ही हुंकार से
दूर कर देगी हमारे देश की सब ईतियाँ !

स्फुट काव्य

१८

गुप्तजी की प्राथमिक रचनाओं में *'भारतभारती'* ने जितनी ख्याति लाभ की, उतनी और किसी ने नहीं। कवि की 'भारत-भारती' को भारत ने *अपनी भारती* समझ कर अपनाया। भारत के कोने-कोने से आवाज आने लगी—

हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी।
आओ, विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी॥

कवि की लेखनी के लिये फलतः तीन समस्याएँ आ खड़ी हुईं।

(i) हम कौन थे ?

(ii) हम क्या हो गए हैं ?

(iii) हम क्या होंगे ?

और इन तीनों का विवेचन उसने तीन खंडों में किया—

(i) अतीत खंड।

(ii) वर्तमान खंड।

(iii) भविष्यत् खंड।

(i) *अतीतखंड*:—अधःपतन की चरम सीमा पर अधिष्ठित भारत का भावुक कवि अपने सुनहले अतीत की याद करता है। वह 'संसार का शिरोमणि' भारत ! वह 'देवलोक-समान' भारत ! अतीत इतिहास का पन्ना-पन्ना कवि की अन्तर्दृष्टि के सामने गुजरता है—चित्रपट के घटना-सन्तान के समान। 'प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल' आर्यावर्त्त—जहाँ हमारे पूर्वजों ने सभ्यता-सुंदरी की प्रथम विभूतियाँ पाई थीं ! जब आज के तथाकथित 'सभ्य' पश्चिमीय राष्ट्र बर्बरता के गंभीर गर्त्त में पतित थे, जब वहाँ के निवासी 'दिगम्बर' रूप में जंगलों की खाक छानते फिरते थे, उस समय—सभ्यता की उस सुनहली ऊषा में—हमारे ऋषि-मुनि वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों के गंभीर तत्त्व-ज्ञान की चर्चा कर रहे थे; गौतम, कपिल, कणाद आदि षड्-दर्शन का दर्शन करा रहे थे, मनु और याज्ञवल्क्य राजनीति और समाजनीति के नियम निर्धारित कर रहे थे, तथा कर रहे थे वाल्मीकि और वेदव्यास अमर काव्यों का सृजन ! क्या विश्व के किसी विभाग ने शिवि, हरिश्चन्द्र और दधीचि-समान दानी पैदा किये हैं ? क्या संसार के किसी कोने में प्रह्लाद, ध्रुव तथा अभिमन्यु-समान दृढ़-प्रतिज्ञ शिशु-वीरों ने जन्म लिया है ? क्या अत्रि और अनुसूया, गान्धारी और दमयन्ती-जैसी ललनाएँ किसी भी अन्य राष्ट्र के इतिहास में मिल सकेंगी ?*

---

* इस प्रसंग में एक बात की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता

सारांश यह कि—

है आज पश्चिम में प्रभा जो, पूर्व से ही है गई।

और यदि विश्वास न हो तो प्रकृति से भी पूछ देखें, क्योंकि—

होता प्रभाकर पूर्व से ही उदित, पश्चिम से नहीं।

'प्राचीन भारत की एक झलक' शीर्षक कविताओं में कवि ने भारत-भूमि, उसकी जलवायु उसके स्त्री-पुरुषों के दैनिक-जीवन, उनकी शिक्षा-दीक्षा और उनके चरित्र का एक सामूहिक किन्तु संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। यह चित्र एक आदर्श भारत का चित्र था। किन्तु समय ने पलटा खाया। महाभारत का युद्ध हमारे पतन का सूत्रपात सिद्ध हुआ। फिर तो विदेशियो-मुख्यतः 'अहले इसलाम दल'-के आक्रमणों ने भारत को जर्जर

है—वह है गुप्तजी का अत्यादर्शवाद। यह अत्यादर्शवाद कवि को कभी-कभी उन असंगतियों के प्रति अन्धा बना देता है जिन्हें वर्तमान विज्ञान-युग गवारा नहीं कर सकता। उदाहरणतः, पूर्वज स्त्रियों की प्रशंसा में उनके प्रताप से सूर्योदय का स्थगित हो जाना, पातिव्रत्य के फलस्वरूप अदृष्ट का ज्ञान हो जाना आदि घटनाओं का उल्लेख किया गया है। ऐसे प्रसंगों में 'हरिऔध' ने प्रायः सदा यह ध्यान रक्खा है कि अतर्कसंगत बातें न आने पावें; और फलतः 'प्रियप्रवास' से बहुत-सी पौराणिक प्रिय परम्पराओं का प्रवास कर दिया गया है। गुप्तजी और 'हरिऔध'जी की भगवद्भावना में भी लगभग इसी प्रकार का अन्तर है—जहाँ गुप्तजी के भगवान 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः' हैं वहाँ 'हरिऔध'जी के उपास्यदेव ऐसी बेतुकी धारणाओं से परे हैं।

कर दिया और जयचंद-जैसे कुपुत्रों ने तो ढहती हुई इमारत की ईंट से ईंट बजा दी। फिर पीछे महाराणा प्रताप-जैसे वीरों ने लाख चेष्टाएँ कीं, किन्तु हमारी लुटी हुई सम्पदा लौट नहीं सकी।

गुप्तजी की दृष्टि में विश्व के इतिहास में भारतवर्ष का यह अधःपतन एक अत्यंत करुणाजनक घटना है; और करुणा की प्रबल भावना की गंगोतरी से ही 'भारत-भारती' की त्रिपथगा फूट पड़ी है। कवि के हृदय में कारुण्य की यह धारा इतनी प्रबल है कि 'अतीत खंड' में भी—जिसमें अतीत का आदर्श प्रस्तुत करना ही उसका मुख्य ध्येय है—वह अपनी विकलता को रोक नहीं सकता और भारत की 'दुर्दशा' पर भी यथास्थल अपना मनस्ताप प्रगट कर ही देता है। कभी कभी उसके हृदय में यह सोचकर एक सान्त्वना की भावना जागरित हो उठती है कि—आखिर !

संसार में किसका समय है एक सा रहता सदा ![1]

क्योंकि—

उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखंड है।[2]

पर इस थोथी सान्त्वना की बाँध कारुण्य के वेगवान आवेग की उमड़ती हुई कूलंकष स्रोतस्विनी को कै मिन्ट रोकने लगी ! 'अतीत खंड' का अंत होते होते कवि की अन्तरात्मा से बरबस

---

१ भारत भारती पृ० १।

२ ,, पृ० २।

एक कसक उठती है और उसकी कलम की नोक पर बल खाती हुई 'भारत-भारती' की पंक्तियों में उतर पड़ती है—

संसार-रूप शरीर में जो प्राण-रूप प्रसिद्ध था
सब सिद्धियों में जो कभी सम्पूर्णता से सिद्ध था।
हा हन्त! जीते जी वही अब हो रहा म्रियमाण है
अब लोक-रूप-मयंक में भारत कलंक-समान है॥[1]

एक ही पद्य में अतीत के वैभव की स्मृति और वर्त्तमान की दीनता की अनुभूति—ये घटना के दो परस्पर विपरीत पक्ष मानों अपने वैषम्य और व्याघात के कारण हमारे मर्मस्थल पर आघात पहुँचाते हैं; और अनायास ही हमारी हृदय-वीणा की स्वर-लहरियाँ काँप उठती हैं—

हा दैव! अब वे दिन कहाँ है, और वे रातें कहाँ![2]

(ii) *वर्त्तमान खंड*—इस खंड की आदिम पंक्तियाँ भी हमारी चेतना में उसी वैषम्य का संचार करती हैं जिसका उल्लेख अभी किया गया है। स्थल-स्थल पर ऐसी पंक्तियों के दुहराए जाने का एक मनोवैज्ञानिक उद्देश्य है—वह यह कि एक ही तरह की तान या गान को सुनते-सुनते हमारी अनुभूति सुप्त अथवा शिथिल न हो जाय। वैषम्य और व्याघात के झोंके मानों

---

१ भारतभारती पृ० ८४।

२ „ पृ० ८४।

उसे सजग करते चलते हैं। कवि के अन्तराल से एक हूक उठती है और लेखनी की पुतलियों से मसि के आँसू चू पड़ते हैं—

जिस लेखनी ने है लिखा उत्कर्ष भारतवर्ष का
लिखने चली अब हाल वह उसके अमित अपकर्ष का
जो कोकिला नन्दन-विपिन में प्रेम से गाती रही
दावाग्नि-दग्धारण्य में रोने चली है अब वही !![1]

कला की दृष्टि से 'अतीत खंड' से 'वर्तमान खंड' कहीं अधिक उत्कृष्ट है। कारण यह कि इसमें कवि के हृदय की कारुण्य-धारा स्वच्छंद एवं अमंद निष्यन्द के समान प्रवाहित हुई है। भारत के प्राचीन भग्नावशेषों, यहाँ के दरिद्र और दुखी किसानों, दुर्भिक्ष-पीड़ित मजदूरों और व्याधिग्रस्त सन्तानों की दशा पर कवि आठ आठ आँसू गिराता है। कारुण्य की ज्वाला से मानों उसकी अन्तरात्मा पिघल उठती है और कविता-सरिता के रूप में अजस्र गति से बह पड़ती है। उदाहरण के लिये केवल दो प्रसंग उद्धृत किये जाते हैं—१. दुर्भिक्षपीड़ितों का चित्रण और २. दीन-हीन गौओं का करुण-क्रन्दन। दुर्भिक्षपीड़ितों की दयनीय दशा का उल्लेख करते हुए कवि कहता है—

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है
मानों निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है !

---

१ भारतभारती पृ० ८५।

निकले हुए है दाँत बाहर, नेत्र भीतर हैं धँसे
किन शुष्क आँतों में न जाने प्राण उनके है फँसे ?[1]

ये पंक्तियाँ हमारी आँखों के सामने मानों उन दुर्भिक्ष-दलित अस्थि-पंजरों को मूर्तरूप में लाकर खड़ी कर देती हैं, और हृदय पर उनकी कारुणिक परिस्थिति की एक अमिट रेखा-सी खिंच जाती है।

गोवध के विरुद्ध अपने विचार प्रगट करते समय कवि ने अपनी कलम गौओं को ही समर्पित कर दी है। कवि यदि चाहता तो स्वयं गौओं को तृतीय पुरुष (Third person) में रख कर उनके संबंध में एक लंबी 'स्पीच' झाड़ देता और उनके प्रति हिंसकों से दया की अपील करता। कारुण्य का उत्पादन वैसे भी होता। किन्तु, उस दशा में—

दाँतों तले तृण दाब कर है दीन गाएँ कह रही—
"हम पशु तथा तुम हो मनुज, पर योग्य क्या तुमको यही ?"[2]

—आदि पंक्तियों को पढ़ने से एक दीन-हीन निस्सहाय परिस्थितियों में पड़ी गैया का जो ज्वलंत चित्र मानस-पटल पर अंकित हो जाता है, वह न होने पाता। ऐसे चित्रण मानों मूर्त्तरूप में

---

१ भारतभारती पृ० ८८।

२ „ पृ० ९९।

आलंबन-विभावों को हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं और इस प्रकार रस के प्रचुर परिपाक में सहायक होते हैं। *

'भारत-भारती' में गुप्तजी ने व्यंग्य (Satire) के द्वारा भी हमारी कारुण्य-कलित परिस्थितियों की ओर संकेत किया है। मतलब यह कि कहीं कहीं हास्य की परिणति कारुण्य में दिखलाई गई है। हास्य और कारुण्य का ऐसा समन्वय केवल सफल कलाकार ही कर सकते हैं। करुणाजनक परिस्थितियों में हास्य अथवा व्यंग्य से काम लेने का एक विशेष उद्देश्य हुआ करता है। जिस प्रकार एक चतुर वैद्य कड़वी दवाओं को भी मधुर रूप देकर

---

* इस प्रसंग में मुझे एक सच्ची घटना याद आती है जिसका उल्लेख अनपेक्ष्य न होगा। एक मेरे मित्र थाने के दारोगा थे। उनके एक परम मित्र ने उनसे अपने खाने के लिए एक बकरी का बच्चा मँगवा भेजा। परस्पर संबंध ऐसा था कि मेरे दारोगा मित्र उस अपने मित्र की बात टाल नहीं सकते थे, किन्तु फिर भी स्वयं वैष्णव होने के कारण आत्मा में बहुत बड़ी आत्मग्लानि का भाव सजग हो रहा था। अस्तु, अन्त में उन्होंने बकरी का बच्चा भिजवाया तो सही पर उसके गले में एक कागज में उस बच्चे की ओर से ही एक मार्मिक आवेदन-पत्र लिख कर बँधवा दिया। उस आवेदन-पत्र में करुणा-पूर्ण वचन में बकरी के उस छौने ने स्वयं प्राण-भिक्षा मांगी थी। परिणाम यह हुआ कि दारोगा के उस मांसाहारी मित्र को एक ठेस-सी लगी और न केवल उसने उस बच्चे को जीवन-दान दिया बल्कि स्वयं भी मांसाहार त्याग दिया।

चिकित्सार्थ उनका प्रयोग करता है, उसी प्रकार व्यंग्य-काव्यकार हमारे सामाजिक तथा राजनीतिक रोगों के निराकरण के लिये एक ऐसा उपचार ढूँढ़ निकालता है जिसमें हमारे रोग भी दूर हो जायँ और उसकी सेवन-विधि में हम रोने भी न पावें। 'वर्त्तमान खंड' के कुछ अंशों में गुप्तजी ने भी इसी तरह के शर्करा-वृत किनाइन (Sugar-coated quinine) से काम लिया है। उदाहरणतः रईसों के वर्णन में—

'हो आध सेर कबाब मुझको, एक सेर शराब हो
नूरेजहाँ की सल्तनत है, खूब हो कि ख़राब हो!'
कहना मुगल-सम्राट् का यह ठीक है अब भी यहाँ
राजा-रईसों को प्रजा की है भला परवा कहाँ?[1]

उसी प्रकार विदेश से लौटे हुए शिक्षितों की चर्चा करते हुए गुप्तजी लिखते हैं कि—

'बारह बरस दिल्ली रहे पर भाँड़ ही झोंका किये!'[2]

इन पंक्तियों के पढ़ने से पहले तो अधरों पर एक मुस्कान की रजत-राजि दौड़ जाती है किन्तु फिर दूसरे ही क्षण इन रईसों और इन विदेशी ढर्रे के 'विजातीय द्रव्य' बाबुओं की दशा पर गौर करते ही आँसू की दो बूँदें ढुलक पड़ती हैं।

---

१ भारतभारती पृ० १११।

२ „ पृ० ११८।

तीर्थों, तीर्थ-पंडों, ऐदंयुगीन क्षत्रियों और नशेबाजों के वर्णन में भी गुप्तजी ने तानेबाजी से काम लिया है। तीर्थ-पंडों के संबंध में वे लिखते हैं—

वे हैं अविद्या के पुरोहित, अविधि के आचार्य है
लड़ना, झगड़ना और अड़ना मुख्य उनके कार्य है।[1]

क्षत्रियों के विषय में भी—

केवल पतंग विहंगमों में, जलचरों में नाव ही
बस भोजनार्थ चतुष्पदों में, चारपाई बच रही![2]

नशेबाजों के संबंध में भी उनकी उक्ति सुन लीजिये—

क्या मर्द है हम वाह वा! मुख नेत्र पीले पड़ गए
तन सूख कर काँटा हुआ, सब अंग ढीले पड़ गए
मर्दानगी फिर भी हमारी देख लीजे कम नहीं—
ये भिनभिनाती मक्खियाँ क्या मारते है हम नहीं![3]

ऐसी सभी व्यंग्योक्तियों की चरम सीमा है हृदय में आत्म-ग्लानि और वेदना का जागरण; मानों कारुण्य के अन्तःसूत्र के आधार पर ही इन उक्तियों के मोती पिरोए गए हों।

'वर्त्तमान खंड' की पूर्णाहुति कारुणिक उद्गारों से ही की

---

१ भारतभारती पृ० १२७।
२ „ „ पृ० १३१।
३ „ „ पृ० १४४।

गई है—भारतवर्ष की अधोगति पर। विकलता के आवेग में कवि घुटने टेक देता है और अञ्जलिबद्ध हो प्रार्थना करता है—

हा राम ! हा ! हा कृष्ण ! हा ! हा नाथ ! हा ! रक्षा करो !!

(iii) *भविष्यत् खंडः*—अतीतखंड के गौरवित सिंहावलोकन और वर्त्तमान खंड के कठोर आत्मभर्त्सन के पश्चात् भविष्यत् खंड आशावाद का संदेश-वाहक बनकर हमारे सामने आता है। हमारा कवि हमारी आँखों के सामने अधःपतन का नग्नचित्र खींचता हुआ भी इसे 'ला-इलाज मर्ज' नहीं समझता। 'प्रस्तावना' में वह स्पष्ट शब्दों में घोषित करता है कि—"संसार में ऐसा कोई काम नहीं जो समुचित उद्योग से सिद्ध न हो सके। परन्तु उद्योग के लिये उत्साह की आवश्यकता है। बिना उत्साह के उद्योग नहीं हो सकता।" इसी उत्साह को, इसी मानसिक वेग को उत्तेजित करने के लिये कवि ने 'भारत-भारती' की कविता को एक साधन बनाया है। वह भारतीय जनता को आवाहन करता है कि—

होकर निराश कभी न बैठो, नित्य उद्योगी रहो।[1]

उसे अपनी प्राचीनता में अन्धविश्वास नहीं है। 'जैसी बहै बयार, पीठ तब तैसी कीजै'-वाला सिद्धान्त उसे मान्य है। अतः वह उस 'हंस-जैसी चातुरी' का उपदेश देता है जिसके द्वारा हम प्राचीन और नवीन दोनों में से उपादेय बातों का ग्रहण कर सकें।

---

१ भारतभारती पृ० १६२।

यदि इस युग में भी कोई नए नए यंत्रों, कल के हलों तथा रेलों और तारों से असहयोग करना चाहे, तो उसकी मूर्खता ही सिद्ध होगी, क्योंकि—

विपरीत विश्व प्रवाह के निज नाव जा सकती नहीं।[1]

अतः कवि भारत के भाग्याकाश में उस सान्ध्य-क्षितिज का सृजन करना चाहता है जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य- तीनों अपने को प्रतिफलित और समन्वित कर दें, ताकि हम कवयित्री के शब्दों में यह मधुर आलाप ले सकें कि—

प्रिय! सान्ध्य गगन मेरा जीवन!
यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग
छाया-सी काया वीतराग
सुधि—भीने स्वप्न - रंगीले घन!![2]

कारुण्य के उद्रेक की दृष्टि से भविष्यत् खण्ड भी अपना महत्त्व रखता ही है, क्योंकि जिस प्रकार कभी कभी आगे कूदने वाले को दो चार डेग पीछे चल कर अपने में गतिशीलता का समावेश करना पड़ता है, अथवा जिस प्रकार प्रातःकालीन सूर्य अस्ताचल की अधित्यकाओं से ही उचक कर उदयाचल की चोटी

---

१ भारतभारती पृ० १६०।
२ महादेवी वर्मा-सान्ध्यगीत (यामा—पृ० १८७)।

की ओर अग्रसर होता है, उसी प्रकार कवि को पाठकों के मानस-पट पर भविष्य का उज्ज्वल चित्र चित्रित करने के लिये जहाँ-तहाँ अतीत का धूमिल पृष्ठाधार देना ही पड़ता है। उदाहरणतः, इस खंड की सर्वप्रथम पंक्तियाँ ही पहले हमें आपबीति की सुधि दिला देती हैं, तब आगे पैर रखती हैं—

हतभाग्य हिन्दू जाति ! तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ ?
वह शील, शुद्धाचार, वैभव, देख, अब क्या है यहाँ ? [1]

सारांश यह कि 'भारत-भारती' के भव्य भवन के तीनों 'खंडों' की भित्तियाँ कारुण्य की ही आधारभूमि पर निर्मित हुई हैं।

---

[1] भारतभारती पृ० १५३।

११

'स्वदेश-संगीत' गुप्तजी की 'स्वदेश-सम्बन्धिनी फुटकर कविताओं' का एक संग्रह है। इसे 'भानमती की पिटारी' ही समझिये, क्योंकि पुस्तकाकार देने की इच्छा पीछे हुई; पहले तो इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओं में ही ये कविताएँ अधिकांश में प्रकाशित हुईं। प्रकाशक ने पुस्तक के शिथिल धागे में इन सुमनों को पिरोते समय यह आशा रक्खी थी कि यह भी 'भारत-भारती' की समकक्ष होकर रहेगी; किन्तु हमारा अनुमान है कि दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है। 'भारत-भारती' को एक दृष्टि से प्रबन्ध-काव्य भी कहा जा सकता है, क्योंकि उसका विकास एक पूर्वनिर्णीत आयोजना के अनुसार हुआ है और भिन्न-भिन्न खंडों के मनोवैज्ञानिक आधार के एकत्व के कारण उनमें आकर्षण-सन्तान (Unity of interest) भी लक्षित होता है। किन्तु 'स्वदेश-संगीत' में ये बातें नहीं हैं।

अस्तु, अब प्रश्न यह है कि इस संग्रह में कारुण्य की धारा किस रूप में प्रवाहित हो रही है। वस्तुतः तो 'स्वदेश-संगीत' में भी कवि की वही भावना अन्तर्धारा के रूप में परिलक्षित होती है जो 'भारत-भारती' में, क्योंकि यहाँ भी हमारे बीते हुए गौरव को याद करके अपनी वर्त्तमान अधोगति पर दैन्य-प्रकाशन किया गया है।

सुनके इसकी सब पूर्व कथा
उठती उर में अब घोर व्यथा ![1]

गौरवशाली अतीत की 'वे बातें' केवल 'चित्र-फलक पर झलक झलक कर' दिखाई देती हैं और अतीत स्मृतियों के गहरे गर्त्त में विलीन हो जाती हैं। वर्त्तमान और अतीत की इस विचित्र उलझन में पड़ा कवि कभी कभी उद्भ्रान्त-सा हो जाता है। द्विकोटिक उद्भ्रान्ति की इस मनोवैज्ञानिक दशा का परिचय देने वाली एक सुंदर कविता है 'अनिश्चय' शीर्षक जिसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

विश्व, तुम्हारा भारत हूँ मै ?
हूँ या था, चिन्तारत हूँ मै !
....
अभी हिमालय तो सुस्थिर है

---

१ स्वदेशसंगीत पृ० २२।

वह मेरा ही ऊँचा सिर है
किधर तपोवन पुण्यागिर है
कैसे कहूँ कि भारत हूँ मैं ?
हूँ या था, चिन्तारत हूँ मैं ![1]

'भारत-भारती' से 'स्वदेश-संगीत' में एक अन्तर यह है कि इसमें गुप्तजी की धार्मिक भावना बड़ी प्रबल हो उठी है। यों तो उनके प्राय: सभी काव्य भगवान रामचंद्र की विनय से आरंभ हुए हैं, फिर भी 'स्वदेश-संगीत' के पन्ने पर पन्ने उलटते जाइये और आपको गुप्तजी घुटने टेके हुए मिलेंगे। 'निवेदन' तब 'विनय', फिर 'प्रार्थना' ! सर्वत्र भगवान से भैक्ष्य ! चौथी और पाँचवीं कविताओं--'ऊषा' और 'आरोग्य-याचना' में भी भगवान की आराधना की गई है—

ऐसी दया करो हे देव ! भारत में फिर ऊषा आवे !

अथवा

हरि, हरि हे !
हे मेरे धन्वन्तरि हे !
तेरे हाथों में है अक्षय सरस-सुधा से भरा घड़ा
और देश यह मरे पड़ा ![2]

इत्यादि

---

१ स्वदेशसंगीत पृ० ५७।

२ ,, पृ० ७।

भगवान के प्रति संबोधित आत्मभर्त्सनाभरित इन पंक्तियों में कवि का हृदय रो उठता है; क्योंकि उसकी आस्तिकभावना इतनी प्रबल है कि उसे समझ में नहीं आता कि भगवान अपने प्यारे भारतदेश को इस तरह तिरस्कृत क्यों किये हुए हैं। साथ ही साथ उसे यह भी विश्वास है कि मँझधार में डगमगाती हुई इस नैया के लिये भगवान के सिवाय दूसरा कर्णधार नहीं मिल सकता। अतः उसके सामने हाथ जोड़ कर वह विनय करता है–

हा हरे! हा दीनबन्धो! हा विभो! विश्वेश!
कौन हर सकता हमारा तुम बिना यह क्लेश!![१]

ऊपर की पंक्ति में 'हे' के बदले 'हा' का प्रयोग अभिप्राय-विशिष्ट है, क्योंकि 'हा' में हृदय की वेदना की भी ध्वनि है।

'भारत-भारती' के समान 'स्वदेश-संगीत' में एक तृतीय पक्ष भी है—भविष्य की भावना और उसके सृजन के निमित्त उद्बोधन। बीच बीच में कवि बोल उठता है—'क्यों तुम यों हताश होते हो!' और हमें 'नवीन' और 'प्राचीन' के समन्वय के द्वारा एक अरुणिम क्षितिज की सृष्टि करने को प्रोत्साहित करता है; और जिस तरह वर्त्तमान की भर्त्सना के लिए अतीत गौरव के पृष्ठाधार की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार भविष्य के क्षेत्र में छलाँग मारने के लिये भी अतीत

---

१ स्वदेशसंगीत पृ० ४३।

की रेखा पर अड़ कर अपनी बिखरी शक्तियों का केन्द्रीकरण और आवाहन आवश्यक हो जाता है। इस उद्देश्य से कवि जहाँ-तहाँ हमें अपनी 'महत्ता' की सुधि दिलाते चलता है—

खुदते हुए खँड़हरों में से गूँज रही यह वाणी—
भारत-जननी स्वयं सिद्ध है सब देशों की रानी[1]!

'भारत-भारती' के समान प्रस्तुत रचना में भी कहीं-कहीं करुण वर्णनों को व्यंग्य का रूप देकर उन्हें मोहक बनाया गया है। यथा—'वृद्ध-विवाह' शीर्षक कविता में—

आज उदार बना है सूम!
बूढ़े भारत के घर देखो मची व्याह की धूम।

....

स्वर्ग-सौख्य भोगो वर-बाबा! शय्या पर मुँह चूम।
आज उदार बना है सूम![2]

इन पंक्तियों को पढ़ते समय यह नहीं समझना चाहिये कि इनमें निरा हास्य रस ही है; बल्कि इनमें छिपी विषाद की एक गहरी रेखा भी है। जिस प्रकार कभी कभी हम यह देखते हैं कि मुसीबतों के कठिन आघात पाकर कोई व्यक्ति पहले तो बहुत

---

१ स्वदेशसंगीत पृ० ६९।
२ ,, पृ० ४९।

रोता है, फिर रोते ही रोते हठात् वह हँस पड़ता है—न जाने क्यों ! ठीक उसी प्रकार कवि की उपर्युक्त पंक्तियों में मानों हास्य और रुदन के छोर एक ही क्षितिज में मिल गए हैं। सच पूछा जाय तो हास्य और रुदन में नितान्त वैपरीत्य का भान करना एक मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति है; क्योंकि विषाद में भी हास्य और आनंद में भी रुदन संभव है।

'स्वदेश-संगीत' की आलोचना पर पर्दा गिराने के पहले एक विषयान्तर अनिवार्य दीखता है। इन पंक्तियों के लेखक ने अन्यत्र लिखा है कि "गुप्त जी को कभी कभी 'राष्ट्रीय कवि' भी कहा गया है, किन्तु ऐसा कहना, हमारी समझ में, एक भ्रम है। अधिक से अधिक हम उन्हें 'जातीय कवि' कह सकते हैं।" अब विचारना यह है कि क्या 'स्वदेश-संगीत' में आई हुई 'सत्याग्रह', 'गांधी-गीत', 'स्वराज्य की अभिलाषा', 'ओ बारडोली' ! आदि कविताओं के आधार पर हम उन्हें 'राष्ट्रीय कवि' की उपाधि दे सकते हैं कि नहीं। हमारा विचार है कि—नहीं। क्योंकि सर्वप्रथम तो यह बात है कि दो चार फुटकर पद्यों से किसी कवि की किसी व्यापक प्रवृत्ति या कविता-धारा का निर्णय नहीं किया जा सकता। 'अस्थिर किया टोपवालों को गांधीटोपीवालों ने' अथवा 'सत्याग्रह है कवच हमारा'-जैसी पँक्तियाँ गुप्तजी के हृदय की नैसर्गिक संपत्ति नहीं है; वे तो जमाने की कदमबोसी के ख्याल से लिखी गई हैं। यदि 'भारत-भारती' के पृष्ठों में—

देते हुए भी कर्मफल हम पर हुई उसकी दया
भेजा प्रसिद्ध उदार जिसने ब्रिटिश राज्य यहाँ नया।[1]

—जैसी लाइनें कवि को सुसंगत जँचीं, तो उनसे 'स्वदेश-संगीत' की—

सूरत में ही कोठी पहले
नौकरशाही ने खोली
सूरत से ही चली हटाने
अब तू उसे बारडोली।[2]

—सरीखी पंक्तियों की संगति नहीं मिलती। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि कवि के जीवन में देश-प्रेम की भावना एक मनोवैज्ञानिक क्रान्ति का परिणाम है। हाँ, एक बहती हुई लहर अवश्य है जो कवि की हृत्तंत्री के तारों से टकरा कर समय समय पर गूँज उठती है। आप 'अछूत' शीर्षक कविता पढ़ें। उसमें कवि यह लिखता है—

हम अछूत जब तक हिन्दू हैं
अचरज है अब तक हिन्दू हैं!
मुसलमान ईसाई हैं तो
देखें फिर कब तक हिन्दू हैं![3]

---

१ भारतभारती पृ० ८०।
२ स्वदेशसंगीत पृ० १२६।
३ ,, ,, पृ० १०८।

इसमें धर्म-प्रेम के दामन में देश-प्रेम छिप-सा गया है। असल में, देश-प्रेम की नवीन भावना के साथ तादात्म्य अनुभव करने के लिये जिस तपस्या और साधना, जिस संस्कार और वासना की आवश्यकता है उसका अभाव रहा है गुप्तजी में। अत: उनके गानों में अव्याहत रूप से राष्ट्रीय भावना की खोज करना व्यर्थ है। राष्ट्रीयता का वर्त्तमान पुजारी आस्तिक हो सकता है, लेकिन धर्म के नाम पर उलूल-जुलूल बातें नहीं मान सकता। गुप्तजी भले ही मान लें कि हमारे पूर्वकालीन ब्राह्मणों में अलौकिक शक्तियाँ होती थीं—

रच सकते थे जो सृष्टि दूसरी निज बल से।
कर सकते थे भव-भस्म अञ्जली के जल से[1]॥

किन्तु बम के गोलों की बर्बादियों का नजारा देखने वाला विज्ञान युग में पला आज का राष्ट्रप्रेमी नवयुवक 'अञ्जलि के जल' की इन दाहक शक्तियों का कायल नहीं होगा। निष्कर्ष यह कि गुप्तजी में धार्मिक भावना का पुट उचित से कुछ अधिक है और जब तक यह बात रहेगी तब तक क्रान्तिमूलक और क्रियात्मक राष्ट्रीयता का संदेश देने से वे असमर्थ रहेंगे।

---

१ स्वदेशसंगीत पृ० ४५।

२०

'मंगल-घट' में गुप्तजी की लगभग साठ ऐसी कविताओं का संग्रह है जिनमें कुछ के रचना-कालों में तो पचीस वर्षों तक का अन्तर है। रचना-कालों की क्रमिकता अथवा विषयों की सदृशता—किसी प्रकार की व्यवस्था का ध्यान प्रस्तुत संग्रह में नहीं रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं जिनको अलग पुस्तकाकार रूप दे दिया जा चुका है; यथा—'विकट भट' जो स्वतंत्र ग्रन्थ भी है अथवा 'महाराज पृथ्वीराज का पत्र' जिसका समावेश 'पत्रावली' में किया गया है। फलतः इस मधुकरी-वृत्ति में किसी प्रवृत्ति-विशेष का अभाव स्वाभाविक ही है। तथापि प्रस्तुत पंक्तियों में कुछ ऐसी ही कविताओं की आलोचना की जायगी जिनमें कारुण्य की धारा किसी न किसी अंश में प्रवाहित हो रही हो।

'निवेदन' के पश्चात् जो 'मंगल-घट' शीर्षक कविता है—और प्रत्यक्षतः जिसके आधार पर इस संग्रह की यह संज्ञा भी दी

गई है—वह कविहृदय की त्याग-लिप्सा एवं दुःख-सहिष्णुता की आकांक्षा का प्रस्फुरण करती है। कवि का 'मंगल-घट' तब तक तैयार नहीं हो सकता, जब तक कवि बलि जाने एवं संताप की भट्ठी में अपने आप को तपाने की चेष्टा न करे—

फिर भी तुझको तपना होगा।
कष्टों से न कलपना होगा।
यों 'मंगल-घट' अपना होगा[1]॥

'याञ्चा' शीर्षक कविता में कवि हाथ जोड़े खड़ा हो जाता है और मानस-मंदिरासीन भगवान की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखता हुआ करुण वाणी का उच्चारण करता है—

भिखारी खड़े हैं, जरा ध्यान दो।
न दो और तो दृष्टि का दान दो[2]॥

प्रायः जब कभी गुप्तजी ने आत्मरक्षार्थ भगवान का आवाहन किया है तब साथ ही साथ अपनी दीनता का भी अभिव्यंजन किया ही है। और उचित भी है, क्योंकि दुर्बल को ही परमुखापेक्षा की अपेक्षा होती है, सबल को नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि जब कभी कवि को 'दुर्बल' तथा 'आरत' भारत का वर्णन करना पड़ता है तो हृदय से एक झिझक-सी उठती है

---

१ मंगलघट पृ० ३।

२ " पृ० ६।

और उसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि उसे तत्क्षण अपने गौरवान्वित अतीत की स्मृति आ घेरती है और वह अपने वर्त्तमान के कालिमामय चित्र के चित्रण के लिये अतीत का सुनहला पृष्ठाधार सजाना आरंभ कर देता है। 'स्वर्ग-सहोदर' शीर्षक कविता में वेदना की अनुभूति के साथ कवि कराह उठता है—

सुनके इसकी सब पूर्वकथा
उठती उर में अब घोर व्यथा।
इसमें इतना घृत क्षीर बहा
जितना न कहीं पर नीर रहा[1]॥

अन्यत्र ('विशाल भारत' शीर्षक पदों में) वह भारत की पराधीनता पर ख्याल कर के पहले तो बहुत विकल होता है। किन्तु फिर यह सोच कर सान्त्वना ग्रहण करता है कि—

शीतल पाकर ही चंदन पर।
लिपटे है बहु व्याल[2]॥

यह सान्त्वना कुचली हुई तमन्ना, टूटी हुई आशा का मानों आँसू पोंछना है; किन्तु कवि करे तो क्या? दूसरा चारा भी तो नहीं है। उसकी आँखों के सामने परस्परविरोधी 'दो दृश्य' उपस्थित हैं, अतः वह स्थल स्थल पर किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा हो जाता है, मानों विपरीत भावनाएँ आकर टक्कर लेती हैं और

---

१ मंगलघट पृ० २५।

२ ,, पृ० ४२।

दोनों की गति क्षण भर स्तब्ध-सी हो जाती है। कवि दोनों नजारों को देखता ही रह जाता है—

आओ तब दोनों आँखों से
देखें हम। भी दोनों ओर
एक आँख से अपनी उन्नति
एक आँख से अवनति घोर[1]।

मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से मन की वृत्तियों का इस प्रकार परस्पर संघर्ष के कारण मन्द पड़ जाना और पंगु हो जाना सूक्ष्म कारुणिकता का एक सुंदर दृष्टान्त माना जा सकता है। हमारी वर्त्तमान परिस्थितियों की विवशता ने कवि की दृष्टि में आँसुओं का महत्त्व बढ़ा दिया है, क्योंकि विषाद और अनुताप के काले बादलों से आच्छन्न हृदयाकाश तब तक हल्का नहीं होता जब तक वे अश्रुसलिल बन कर ढुलक नहीं पड़ते। अतः कवि हमें आदेश देता है कि—

नेत्र-गंगा में नहालो मानवो।
पाप-तापों को बहा लो मानवो[2]॥

आँसू कोई अपवित्र और घृणित पदार्थ नहीं है, क्योंकि—

स्वर्ग की शुचिता उन्हीं में है यहाँ
अमृत के अनुभूत कण जानो उन्हें[3]।

---

१ मंगलघट पृ० १४०।
२ „ पृ० २५७। ('आँसू')।
३ „ पृ० २५७।

नवयुग की छायावादी कविता-सरिता में 'आँसू' का जो प्रवाह निरन्तर बहता है उसी की परम्परा में गुप्तजी की ये पंक्तियाँ भी शामिल होंगी, यद्यपि इनमें 'प्रसाद' के 'आँसू'-जैसी सूक्ष्म कल्पना और गहरी अनुभूति का अभाव है।

'मंगल-घट' के मध्यभाग में कुछ ऐसी कविताएँ हैं जो प्रबन्धात्मक हैं, और जिनके कथानक का मुख्य स्रोत या तो महाभारत है या प्रचलित ऐतिहासिक गाथाएँ। प्रथम कोटि की कविताएँ निम्नलिखित हैं:—

भीष्म प्रतिज्ञा।

द्रौपदी-दुकूल।

वरदान।

उत्तर और बृहन्नला।

केशों की कथा।

रण-निमंत्रण।

द्वितीय कोटि में अधोलिखित:—

विकट भट (स्वतंत्र पुस्तकाकार भी प्रकाशित है)।

न्यायादर्श।

महाराज पृथ्वीराज का पत्र ('पत्रावली' में सम्मिलित)

नकली किला।

दस्ताने।

महाभारत-मूलक कथानकों में 'द्रौपदी-दुकूल' 'वरदान' तथा 'केशों की कथा'—इन तीनों का सीधा सम्बन्ध करुणा से है।

जब द्रौपदी को भी पाण्डव जुए में हार गए, तब भरी सभा में उसे खींच लाया गया और वचन-बद्ध पाण्डव 'मंत्रों से कीलित भुजंगम-सम' स्त्रैण और स्तब्ध, इस अपमान को देखते रह गए। पतिव्रता स्त्री का पतियों की आँखों के सामने केश-कर्षण किया गया, किन्तु पत्ता तक न हिला। जब दुःशासन ने दुकूल पर हाथ फैलाया, तब भीम से न रहा गया और उसने उस पापी के शोणित से अपनी तृष्णा बुझाने की भीम प्रतिज्ञा की। किन्तु उस विचित्र परिस्थिति में भीम भी मोम का पुतला बना था। अंतः एक मात्र हरि का सहारा नजर आया, और उस समय सलज्जा और निर्लज्जा, सवसना और विवसना की क्षीण सीमान्त रेखा पर लड़खड़ाती हुई कृष्णा करुण क्रन्दन कर उठी—

हे अन्तर्यामी मधुसूदन !
कृष्णचंद्र ! करुणासिन्धो !
रमा-रमण, भय-हरण, दयामय,
अशरण-शरण, दीनबन्धो !
मुझ अनाथिनी की अब तक तुम
भूल रहे हो सुधि कैसे ?
नहीं जानते हो क्या केशव !
कष्ट पा रही हूँ जैसे[1] ?

---

१ मंगलघट पृ० ८३।

करुणामय कृष्णचंद्र ने करुणा की, और नीच दुःशासन ने आश्चर्यविस्फारित नेत्रों से देखा कि—

द्रौपदी का वह दुकूल दुरन्त था !

'वरदान' शीर्षक कविता में यह वर्णन किया गया है कि किस प्रकार धृतराष्ट्र को द्रौपदी का यह अपमान सुन कर अपने पुत्रों के प्रति अति क्षोभ हुआ और अपनी सुपुत्रवधू के प्रति, जो उनके सामने लज्जित सिमटी-सी, निश्चल नीचा वदन किये खड़ी थी, अनुकम्पा के भाव जागरित हुए। 'केशों की कथा' में द्रौपदी हमें चोट-खाई-हुई-नागिन-सी दीख पड़ती है। नारी-हृदय स्वभावतः बहुत कोमल होता है किन्तु अपमानित होने पर उसी हृदय में प्रति-हिंसा की प्रचंड ज्वाला धधकने लगती है। अतः अज्ञात-वास के अवसान पर जब धर्मराज युधिष्ठिर ने फिर भी कौरवों के संमुख संधि का प्रस्ताव रखने की मंत्रणा दी, तब द्रौपदी से न रहा गया। उसने स्त्रीसुलभ शालीनता का परित्याग कर 'धृष्टता' की शरण ली; संधि का खुल्लमखुल्ला विरोध किया। फिर अन्त में अपने भुजंगिनी-सरीखे केशों को फटकारते हुए उसने 'करुणामयी' वाणी में श्रीकृष्ण से प्रार्थना की—

करुणा-सदन, तुम कौरवों से संधि जब करने लगो
चिन्ता व्यथा सब पाण्डवों की शान्त कर हरने लगो
हे तात ! तब इन मलिन मेरे मुक्त केशों की कथा
है प्रार्थना, मत भूल जाना, याद रखना सर्वथा[1] ॥

---

1 मंगलघट पृ० ११०।

इतना कहना था कि दृगद्वार से अश्रुधार उमड़ पड़ी और श्रीकृष्ण सान्त्वना की बाँध बाँध कर उसके प्रवाह को रोकने लगे। वीरता-भरी करुणा, प्रति-हिंसा-परक अपमान का जो मनोवैज्ञानिक निदर्शन द्रौपदी के चरित्र में चित्रित किया गया है, वह गुप्तजी के हृदय की प्रिय भावना है। इसे हम सामूहिक रूप से 'उदात्त-कारुण्य' कहें तो अनुचित न होगा।

प्रचलित ऐतिहासिक गाथाओं में दो-'विकट भट' और 'महाराज पृथ्वीराज का पत्र'-की आलोचना यथावसर की गई है। शेष में मुख्य रस वीर है और उसका प्रस्फुटन प्रस्तुत निबंध के लिये विषयान्तर है।

'*पत्रावली*' शीर्षक पद्यात्मक पत्रावली में निम्नलिखित पत्र सम्मिलित हैं :—

(i) महाराज पृथ्वीराज का पत्र महाराणा प्रतापसिंह के प्रति।

(ii) महाराणा प्रतापसिंह का प्रत्युत्तर पृथ्वीराज के प्रति।

(iii) छत्रपति शिवाजी का पत्र औरंगजेब के प्रति।

(iv) औरंगजेब का पत्र पुत्र के नाम।

(v) महारानी सीसोदनी का पत्र महाराज जसवन्तसिंह के नाम।

(vi) महारानी अहल्याबाई का पत्र राघोबा के नाम।

(vii) राजकुमारी रूपवती का पत्र महाराना राजसिंह के नाम।

(i) (ii) इनमें प्रथम में बीकानेर के महाराज पृथ्वीराज ने जब यह जाना कि महाराणा प्रताप ने अकबर के साथ संधि का प्रस्ताव भेजा है तब उन्हें पत्र द्वारा अपने प्रण पर अटल रहने को प्रोत्साहित किया। फलतः इसमें मुख्य रस वीर है। किन्तु

वीर रस के आवाहन के लिये कारुण्य का उद्भावन किया गया है। सामान्यतः वीर रस का उद्रेक ओजभरे वाक्यों के द्वारा किया जाता है; किन्तु हमारा विचार है कि जहां किसी कारुण्य-पूर्ण परिस्थिति का—चाहे वह तात्त्विक हो अथवा काल्पनिक-चित्रण करके, पहले हृदय में उसके द्वारा आर्द्रता लाकर, फिर उस पर वीर रस को मुद्रित किया जाता है, वहां प्रभाव स्थायी और सुदृढ़ होता है। जिस प्रकार गीली जमीन में पदचिन्ह स्पष्ट और अपेक्षाकृत स्थायी रूप में अंकित होता है, उसी प्रकार कारुण्य द्वारा मानों हृदय नाजुक तथा स्पर्शालु (touchy) हो जाता है; और वैसी दशा में उस पर जो भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है उसमें आवेग की मात्रा अधिक रहती है। जिस समय प्रताप ने पृथ्वीराज की निम्नलिखित पंक्तियां पढ़ी होंगी—

मैं कैसा हो रहा हूँ इस अवसर में घोर आश्चर्यलीन
देखा है आज मैंने अचल चल हुआ, सिंधु संस्थाविहीन्!
देखा है, क्या कहूँ मैं, निपतित नभ से इंद्र का आज छत्र
देखा है और भी, हाँ, अकबर-कर में आपका संधि-पत्र[1]!

पुनश्च—

जाते है क्या झुकाने अब उस सिर को आप भी हो हताश!
सारी राष्ट्रीयता का शिव! शिव! फिर तो हो चुका सर्वनाश[2]!

---

१ पत्रावली पृ० ६।

२ " पृ० १०६।

—तब उनके हृदय की सोई हुई और क्षण भर के लिए मर्दित आत्मसम्मान की भावना पर जबर्दस्त ठेस लगी होगी; संभवतः आँखों से अनजान दो चार कतरे आँसू भी चू पड़े होंगे। इस प्रकार क्षेत्र सिञ्चित हो जाने पर वीररूपी बीज का वपन होना आसान हो गया होगा, और फिर उस उपयुक्त मनोवैज्ञानिक परिस्थिति में जब पृथ्वीराज की आत्मा ने पत्र द्वारा प्रताप के संमुख खड़ी होकर प्रश्न किया होगा कि—

आज्ञा दीजे मुझे जो उचित समझिये प्रार्थना है प्रकाश—
मूंछें ऊंची करूं या सिर पर पटकूं हाथ होके हताश[1]—? ।

तब निश्चय ही उसे कुछ इस प्रकार का उत्तर प्रताप के अन्तस्तल में गूंजता हुआ सुन पड़ा होगा—

मूंछें ऊँची रखूंगा; मत फिर जकड़े दैन्य का वन्ध-पाश !!

महाराणा प्रताप के प्रत्युत्तर में आत्म-गौरव की बुझती हुई भावना धधक उठी। अनुताप की अग्नि में जलते हुए उन्होंने स्वीकार किया कि—जब दैवदुर्विपाक से बिल्ली घास फूस की वह रोटी भी ले गई जिससे मैं अपनी मृतप्राय पुत्री की प्राण-रक्षा करता तो मेरा साहस छूट गया और निराशा का एक झंझावात आया तथा मेरे आत्म संमान के छप्पर को पुत्री के प्राण-पखेरुओं के साथ ही साथ दूर उड़ा ले गया। किंतु अब, आपका पत्र पाने पर, मैं सजग हो गया हूँ और प्रण करता हूँ कि—

---

१ पत्रावली पृ० १०।

सहूँगा दुःखों को सतत फिर स्वातंत्र्यसुख से
करूँगा जीते जी प्रकट न कभी दैन्य मुख से[1] !!

(iii) तृतीय पत्र में शिवाजी ने 'जजिया' नामक कर लगाने के संबंध में औरंगजेब को पत्र लिख कर उसके प्रति उसका ध्यान आकृष्ट किया है। हिन्दुओं के प्रति औरंगजेब के शासन में जो अन्याय और अत्याचार किये जा रहे थे उनका एक सकरुण वर्णन करके शिवाजी ने उस मुगल शासक के हृदय में सोई हुई मानवता को उद्बोधित करने की चेष्टा की है। यह एक मनोविज्ञान-शास्त्र का नियम-सा माना जा सकता है कि मानव प्रकृति में अन्तर्हित रूप से वर्त्तमान जो सद्भावनाएँ अथवा सत्प्रवृत्तियाँ होती हैं उनको जागरित करने और सुलगाने का एक बहुत सुंदर साधन है किसी प्रकार के शोक अथवा अनुताप के आघात-प्रतिघात द्वारा हृदय में कारुण्य का सृजन। महात्मा बुद्ध के हृदय पर जब रोग, वृद्धावस्था और आकस्मिक मृत्यु ने चोट पर चोट पहुँचाई तो दबी हुई विरक्ति की भावना प्रज्वलित हो उठी। कलिंग-युद्ध के नर-संहार के कारुणिक दृश्य ने महाराज अशोक की रक्तपिपासा को सदा के लिये विरक्त कर दिया और उन्हें अहिंसा और धर्म का उपासक बना दिया। सामान्य जीवन में भी—हमारी व्यक्तिगत दिनचर्या में भी—हम देखते हैं कि जब हमारा कोई प्रेम-पात्र हमें छोड़ कर गोलोक

---

१ पत्रावली पृ० १६।

की राह लेता है, अथवा हमारी आशाओं पर एक जोर की ठेस लगती है, तो ऐसा प्रतीत होता है मानों कुछ देर के लिये हमारी दैवी भावना ('God-in-man') ने हमारी मानवी-दुर्बलता ('Man-in-god') पर विजय प्राप्त कर ली। किन्तु साधारण मनुष्यों के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ कुहेसे के समान आती हैं और चली जाती हैं। विरले ही ऐसे आत्मानुयायी व्यक्ति होते हैं जो उनसे लाभ उठा कर अपने जीवन-ग्रंथ में एक नया पृष्ठ उद्घाटित कर सकें। शिवाजी ने चाहा कि—

> हिन्दू जो हैं हतविधि, हुए मृत्युकालावसन्न
> होते जाते यवन जन भी चित्त में अप्रसन्न
> व्यापारी हैं विवश लुटते, रो रही है रियाया !
> कोई भी है कुछ न सुनता घोर अंधेर छाया[1]॥

—आदि दैन्य के वर्णनों द्वारा औरंगजेब के दिल में भी सहानुभूति का संक्रमण हो जाय, किन्तु शिवाजी का मनोरथ उस समय विफल हुआ।

(iv) शिवाजी का मनोरथ उस समय विफल तो हुआ, किन्तु औरंगजेब के चित्त में कालक्रम से एवं नैसर्गिक रूप से, उस अवसर पर आत्म-ग्लानि की भावना सजग हुई; जिस समय यम आँखें फाड़ कर उसे देखने लगा। लोगों की धारणा है कि

---

१ पत्रावली पृ० २०।

मरण के समय मनुष्यों की आँखों के सामने उसके पापों का 'पैरेड' होने लगता है, और अन्तिम आँसू अनुताप के ही आँसू हुआ करते हैं। यह धारणा सत्य है अथवा नहीं, इसका चाहे प्रायौगिक प्रमाण न मिले, किन्तु अनुमानतः इसे मानने को बाध्य होना पड़ेगा। हम ऊपर कह आए हैं कि कारुणिक परिस्थितियाँ सत्प्रवृत्तियों को जगाती हैं; अतः जिस समय मृत्यु हमारे सारे अर्मानों और अतीत जीवन के नाटक के अन्तिम दृश्य पर अन्तिम पटाक्षेप करने जा रही हो, उस समय यदि अपनी काली करतूतों को याद कर के हमारी आत्मा रो उठे, और 'अंजन गुन अँटके' 'खंजन नैन' दो दो मोती बरसा कर 'ताटंक' फाँद जायँ, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

औरंगजेब के साथ भी, गुरुजी का कहना है, ऐसा ही हुआ। अपने पुत्रों को संबोधन करते हुए वह लिखता है--

रह रह उठती है चूक की आज हूक
यह कठिन कलेजा हो रहा टूक टूक
समय गत हुआ है शेष है क्या उपाय
शर निगल चुका है हाथ से हाय! हाय[1]!

इनके बाद की पंक्तियों में उत्तरार्द्ध भाग के अनुप्रासविशिष्ट होने से कारुण्य के घनीभूत होने की ध्वनि होती है--

---

1 पत्रावली पृ० २६।

अघ-घट अपने मैं फोड़ के जा रहा हूँ
नय-नियम यहाँ के तोड़ के जा रहा हूँ
इस तनु तक को भी छोड़ के जा रहा हूँ
बस अपयश को ही जोड़ के जा रहा हूँ[1]।

पाठक अपने मानस-पटल में वह दृश्य उपस्थित कर सकते हैं जब मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ मुगल-सम्राट् मन्द मन्द स्वरों में 'जा रहा हूँ' की बार २ आवृत्ति करता हुआ उस शानोशौकत से विदा ले रहा है जिसे ऊंचा रखने के लिये उसने खून की नदियाँ बहाई थीं, अपने परिवार के शोणित में ही अपने हाथ रँगे थे। वैभव जितने ही उत्कर्ष पर विराजमान होता है, उसका पतन उतना ही मर्मान्तक होता है। औरंगजेब की उपर्युक्त पँक्तियाँ भी इसी मर्मान्तक वेदना का परिचय देती हैं।

(v) पंचम पत्र में उस समय का प्रसंग है जब राज्यप्राप्ति के लिये औरंगजेब और दारा में युद्ध छिड़ा था। तब जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह ने दारा का साथ दिया था; किन्तु उसके हार जाने पर महाराज जोधपुर लौट गए। सुना जाता है कि महारानी ने अपने पति की कायरता सुन कर किले का फाटक बन्द करा दिया और पत्र द्वारा ग्लानि प्रगट की। यदि महारानी की मनोवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो उसमें दो परस्पर-

---

1 पत्रावली पृ० २७।

विरोधी भावनाएँ उथल-पुथल मचाती दीख पड़ेंगी—(१) भीरु पति की पत्नी होने के कारण दैन्य और विषाद, किन्तु (२) ऐसे पति की भर्त्सना करते हुए अपने व्यक्तित्व का गौरव स्थापित करने के कारण वीरता और गर्व। प्रथम भावना का प्रतीक निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं।

रानी कहती है—

माँ मेदिनी! तू फट, मैं समाऊँ
कुकीर्त्ति से जो अब त्राण पाऊँ
न लोक में मैं यदि जन्म पाती
तो भीरु भार्या फिर क्यों कहाती[1]।

द्वितीय भावना का प्रतिनिधित्व निम्नलिखित पंक्तियाँ कर रही हैं—

जाओ, यहाँ से तुम लौट जाओ
तुम्हें यहाँ स्थान कहाँ कि आओ
हो शून्य तो भी यह सिंह-पौर
है गीदड़ों को इसमें न ठौर[2]॥

यह अंतिम भावना तो वीर रस की भावना कही जायगी, किन्तु प्रथम को कारुण्य की कोटि में अन्तर्निविष्ट किया जायगा,

---

१ पत्रावली पृ० ३२।

२ „ पृ० ३४।

क्योंकि महारानी अपने आप पर तरस खा रही हैं और उन्हें अपने व्यक्तित्व से घृणा हो उठी है।

(vi) (vii) महारानी अहल्याबाई का राघोबा के नाम अथवा रूपवती का महाराना राजसिंह के नाम जो पत्र है उसका संबंध या तो केवल वीर से या मिश्रित वीर-शृंगार से है। किसी ऐसी करुणाजनक परिस्थिति का चित्रण नहीं किया गया है जिसकी आलोचना प्रस्तुत पंक्तियों का विषय बन सके।

२२

'हिन्दू' स्फुट काव्यों का एक ऐसा संग्रह है जिसमें कवि के उपदेशक ने कवि के कलाकार को पूर्ण रूप से तिरोहित कर लिया है। गुप्तजी को इस प्रकार उग्र रूप से 'कला में उपयोगिता-वाद' का अनुसरण करने में कोई झिझक नहीं है। इस मनोवृत्ति का परिचय उन्होंने स्पष्ट रूप में आलोच्य पुस्तक की 'भूमिका' में दिया है।

इस प्रसंग में प्रश्न यह है कि—'हिन्दू' में कारुण्यधारा का प्रवाह कैसा और किस रूप में है? उत्तर यह होगा कि 'भारत-भारती' आदि में जो तीन प्रमुख भावनाएँ देखने में आई हैं, वे ही इस संग्रह में भी हैं। अन्तर यह है कि 'भारत-भारती' की प्रतिपादन-शैली में कवि का 'हिन्दुत्व' उतना प्रस्फुट नहीं हो पाया है जितना कि 'हिन्दू' में। और ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि इसी भावना से प्रेरित होकर यह संग्रह किया गया, और नाम भी ऐसा दिया गया जिससे यह भावना संकेतित हो

जाय। कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं जिन पर महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन और अहिंसात्मक सिद्धान्त का प्रतिफलन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है, किन्तु प्रथम तो ऐसी कविताएँ बहुत कम संख्या में हैं; दूसरे, जो हैं भी उनमें उग्र राष्ट्रीयता के भाव निहित हैं अथवा नहीं इसमें संदेह है; क्योंकि हमारा विचार है कि गुप्तजी सामान्यतः जातीयता की भावना के स्तर में ऊपर नहीं उठ सके हैं।

ऊपर की पंक्तियों में जिन तीन भावनाओं का उल्लेख किया गया है, वे हैं—

(i) अतीत का गौरवान्वित अध्याहरण।

(ii) वर्त्तमान का दुखद संस्मरण।

(iii) भविष्य का स्वर्णिम संस्करण।

और ये तीनों 'हिन्दू' में वर्त्तमान हैं। प्रस्तुत संग्रह का आरंभ 'विस्मृति' और 'अभाव' शीर्षक कविताओं से हुआ है, जिनमें यह बताया गया है कि हमारी महत्ता का परिचायक अतीत अतीत हो चुका—

> वह साधन, वह अध्यवसाय
> नहीं रहा हममें अब हाय!
> इसी लिये अपना यह ह्रास—
> चारों ओर त्रास ही त्रास[1]।

---

1 हिन्दू पृ० ५० ('अभाव')।

गुप्तजी का विचार है कि हम आवश्यकता से अधिक सकरुण रहे हैं; और हमारे वैरियों ने, आक्रमणकारियों ने, हमारी इस 'अतिरिक्त करुणा' से नाजायज फायदा उठाया है। फलतः हमारी पिछली अनुकम्पा ही, हमारी पूर्वल करुणा ही, आज करुणा का विषय बन गई है; वह हमारी दुर्बलता का प्रतीक मानी जा रही है। किन्तु इस दुर्बलता में भी कवि हमें निराशावादी नहीं होने देगा। माना कि आज हम दीन, हीन और विच्छिन्न हैं; हममें बल नहीं है और न है बुद्धि। फिर भी गुप्तजी की धारणा है कि यदि हम करोड़ो-करोड़ मिलकर एक साथ असंतोष की आहें भी भरें, तो उन आहों की आग में हमारे विपक्षी जल जायँगे—

> किन्तु करें मिल कर यदि आह
> तो भी कौन सहे यह दाह[1] ?

अतः निराश होने का अवकाश नहीं है; विश्वास रहे कि हमारे भाग्याकाश में फिर भी प्रभाकर के प्रकाश का विकाश एक न एक दिन होगा ही। पौरस्त्य-क्षितिज में ही तो सूर्य उदित होता है; फिर पौरस्त्य देशों को निराश होने की जरूरत ही क्या ?

विशिष्ट-विषयक पद्यों में 'विधवा' करुणा की दृष्टि से सविशेष उल्लेखनीय है। 'पवित्रता की सकरुण मूर्त्ति' हिन्दू विधवा पर कौन नहीं तरस खायगा ? सो भी ऐसी दशा में कि उसी परिवार के अन्य पुं-सदस्य 'ब्याहों पर ब्याह' करते

---

1 हिन्दू—पृ० ८० (अपमान)।

जाते हैं—असमय में भी—अति-समय में भी; और उसी घर में, खिले-हुए-फूल-के-समान षोडशी वैधव्य का बैज पहने अधूरे अमानों के तूफानों के झोंके पर झोंके सहती है, किन्तु सदाचार के वृन्त से रत्ती भर भी च्युत नहीं होती। 'अछूतों' की दशा पर भी गुप्तजी का हृदय पिघल उठता है और वे इस 'दारुण दृश्य' की ओर हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित करते हैं। आज जो हजारों, लाखों की संख्या में अछूत विधर्मी होते चले जा रहे हैं, उसका मुख्य कारण है हिन्दुओं की सामाजिक रूढ़ि, जिसके वशीभूत हो अछूतों को नर-पशु समझा जा रहा है। गुप्तजी ने हिन्दू समाज की इन सारी कुरीतियों के विरुद्ध स्पष्ट शब्दों में जिहाद खड़ा किया है, किन्तु ऐसा करने के पहले उस समाज की हृत्तंत्री के कोमल से कोमल तारों को छू कर प्रस्पन्दित कर दिया है ताकि उनसे निकली हुई तान भारत के कोने कोने में गूँज जाय।

२३

'वैतालिक' गुप्तजी की एक छोटी-सी प्रबन्धात्मक रचना है, किन्तु व्यक्तिविशिष्ट से संबन्ध न रखने तथा इतिवृत्तात्मक न होने के कारण उसकी शुमार स्फुट काव्यों में ही की गई है। 'वि + ताल' (विविध ताल) शब्द से 'वैतालिक' की उत्पत्ति हुई है और इसका अर्थ हुआ "विविध ताल दे कर गाने वाला"। भारतीय साहित्य में राजकुमारों अथवा अन्य सम्पन्न नायकों की मीठी मीठी नींद से उन्हें प्रातःकाल जगाने के लिए गायकों के नियुक्त होने का उल्लेख प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। उदाहरणतः महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' के पञ्चम सर्ग के अन्त में राजकुमार अज के वैतालिकों द्वारा उद्बोधन प्रकार का वर्णन किया है।

तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं
शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशांगरागम् ।

वैतालिकाः सवयसः प्रथितप्रबोधं
प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः[1] ॥
रात्रिर्गता मतिमता वर मुञ्च शय्यां
धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्र—
स्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी[2] ॥

—आदि ॥

इसी सिलसिले में विभात-वायु, भ्रमर-भूषित पद्मों, पल्लव-पतित हिमाम्भ आदि प्रकृति के दृश्यों का भी संक्षिप्त चित्रण हुआ है ।

१—२—रघुवंश—सर्ग ५ श्लोक ६५, ६६ ।

किये रगड़ कर्णभूषणों ने विदीर्ण थे पीन अंस जिसके
तथा पलँग के परिच्छदों से बिगड़ गए चन्दनादि घिस के ।
सुबोध उसका प्रबोध करने लगे उसी की युवा उमर के
प्रगल्भ बंदी-कुमार होते प्रभात भारी बखान कर के ॥
"मनस्वि-भूषण ! विमुक्त शय्या करो, इतिश्री हुई निशा की
विधातृ-वर से विभक्त दो-मध्य दी हुई है धुरी रसा की ।
अभी तुम्हारे पिता उठाने लगे उसे एक ओर उठ कर
कुमार ! तुम भी सँभालने भार को लगो अन्य ओर जुटकर" ॥

(श्री रामप्रसाद सारस्वत कृत हिन्दी-पद्यानुवाद से उद्धृत),

गुप्तजी के 'वैतालिक' ने किसी राजकुमार का उद्बोधन नहीं करके सारे भारतीयों का उद्बोधन अपना लक्ष्य बनाया है; और यही व्यापकता इस काव्य की विशेषता है। कालिदास ही के समान गुप्तजी ने भी किन्हीं किन्हीं पद्यों में मानव तथा मानवेतर प्रकृति में बिम्बप्रतिबिम्बभाव का आधान किया है।

यथा—

स्वर्णालोक-पूर्ण नभ है
जो सूना था सुप्रभ है।
रहो तुम्हीं क्यों रिक्त हृदय
करो शुभाशा-सिक्त हृदय[१]।

यदि प्राच्य क्षितिज के गगन में लालिमा छाई है, अंधकार पर प्रकाश विजयी हुआ है, तो हमारे भी हृदयाकाश में शुभाशा की स्वर्णिम ज्योति क्यों नहीं उदित होगी[२]!

सम्पूर्ण 'वैतालिक' की कथावस्तु तीन मुख्य विभागों में बाँटी जा सकती है:—

i. १-१६ पद्य तक—उद्बोधनाह्वान।

---

१ तुलना कीजिये.—

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम्।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते किंवा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति॥

रघुवंश। सर्ग ५।७१।

२ वैतालिक पृ० ५।

ii. १७-७८ पद्य तक—उषा और उसकी अरुण किरणों का वर्णन[1]।

iii. ७९-१२५ ,, ,,—पश्चिमीय (यूरोप आदि) देशों की भौतिक उन्नति की ओर संकेत करते हुए उनके सद्गुणों के अनुकरणार्थ भारतीयों को प्रोत्साहन तथा उनकी त्रुटियों का उल्लेख और भारतीय महत्ता का उद्भावन।

'भारतेन्दु' के समान गुप्तजी भी सामाजिक क्षेत्र में समन्वयवाद के पक्षपाती हैं; वे पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों सभ्यताओं के आधार पर, दोनों के सद्गुणों के संकलन और संमिलन द्वारा, एक नवीन सभ्यता का उदय भारत में देखना चाहते हैं।

---

[1] कल्पना की दृष्टि से यह वर्णन बहुत ही सुंदर उतरा है। विशेषतः पद्य ४३-५८ की उत्प्रेक्षाएँ तो पढ़ने ही योग्य हैं और उन्हें पढ़ने के लिये कवि ने स्वयं हमें आमंत्रित किया है--

हैं जो इष्ट अपेक्षाएँ
उन सबकी उत्प्रेक्षाएँ।
ये स्वरलिपियाँ नई पढ़ो
गाओ जीवनगीत बढ़ो॥

पृ० १५। पद्य ५८।

कारुण्य की दृष्टि से 'वैतालिक' को कोई विशिष्ट गौरव नहीं दिया जा सकता है। हाँ, यह अवश्य कहा जायगा कि यदि कवि को हम वैतालिक की भूमिका में अपने मानस-पटल पर चित्रित करना चाहें तो देखेंगे—रात और दिन की सीमान्तरेखा पर खड़ी हुई लजीली उषा ! कुछ करुण-करुण, कुछ मधुर-मधुर भैरव राग की तान भरती हुई तंत्री कवि के हाथों में; सिर कुछ झुका हुआ; आँखों की पलकें अर्ध-निमीलित; चेहरे पर आन्तरिक वेदना का धूमिल प्रतिफलन; कुछ मंद मंद पड़ती हुई मृदंग की थापें मानों अन्तर्लिलीन तथा अस्पष्ट हृत्स्पंदनों की प्रतिमूर्त्ति हों; न मुख पर मुसकान, न भौंहों में हँसी ! भारत की विनष्ट विभूतियों का मानों स-मांस-शोणित मानदंड !

निराशा के इसी अन्तर्हित पृष्ठाधार पर आशा और जागरण के संदेश की बिगुल फूंकी गई है 'वैतालिक' में—

बने कूप-मण्डूक निरे
रहो घरों में ही न घिरे[1]।
....
फिर अपने को याद करो
उठो अलौकिक भाव भरो[2]।
. . ..

---

१ वैतालिक पृ० ३।

२ ,, पृ० ४।

यह सोने की मूर्ति उषा
नव स्फूर्त्ति की पूर्त्ति उषा।
जगा रही है, जगो, जगो,
कर्त्तव्यों में लगो, लगो[1]!

---

१ वैतालिक पृ० ५।

‘झंकार’

और

गुप्तजी की छायावादिता

२४

'झंकार'—भिन्न भिन्न समयों में रचे गए पद्यों का संग्रह—गुप्तजी की रचनाओं में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है; अतः स्फुट काव्यों की सामान्य कोटि से अलग इसकी आलोचना की जायगी। 'झंकार' का महत्त्व है दो दृष्टियों से:—

(i) प्रथम कि, इसकी सभी कविताएँ अध्यात्मपरक हैं—लगभग सभी का संबन्ध परमात्मभावना से है। अतः यह गुप्त-जी की आध्यात्मिक भावना का प्रतिबिम्ब-सा है।

(ii) द्वितीय कि, झंकार ही कवि की एक मात्र ऐसी स्फुट रचना है जो रहस्यवादी या छायावादी स्फुट कवियों के प्रभाव से विशेष रूप से प्रभावित हुई है।

इनमें प्रथम की विवेचना इस स्थल पर विषयान्तर होगी। परन्तु छायावाद की जो जो प्रवृत्तियाँ झंकार में परिलक्षित होती हैं, वे मुख्यतः ये हैं:—

(क) भाषा की रहस्यमयता।

(ख) माधुर्य-भाव-भरित भगवद्भक्ति।

(ग) माधुर्य-भाव में भी विप्रलम्भपक्ष की प्रियता और प्रबलता।

(घ) छन्दों की निर्बन्धता।

इन चारों का संक्षेप में उल्लेख किया जायगा किन्तु इतना आरम्भ में ही कह देना उचित होगा कि इन सभी प्रवृत्तियों के मूल में मानवीय हृदय की दुर्बलता का इतिहास छिपा हुआ है। छायावाद भारत की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक विषमताओं और विकलताओं के प्रति भावुक तरुण हृदय की प्रतिक्रिया है। अतः किसी न किसी रूप में, ऋजु या अऋजु तौर से, ये प्रवृत्तियाँ करुणार्द्र हृदय की अभिव्यञ्जना के लिये सरणियाँ-सी समझी जानी चाहियें। फलतः, कवि के काव्य की कारुण्यधारा की आलोचना करते हुए, गौण रूप से, सामान्य मानसिक पृष्ठभूमि के हृदयंगमन के उद्देश्य से, हमारे लिये इनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी अपेक्ष्य हो जाता है।

(क) यदि हम 'झंकार' के मुख-पृष्ठों का अवलोकन करें तो उन में से एक पर ये तीन पंक्तियाँ अंकित दीखेंगी:—

स्वर न ताल केवल
झंकार
किसी शून्य में करे विहार[1]

---

1 झंकार पृ० ९।

ये पंक्तियाँ मानों इस संग्रह की शैली के प्रतीक हैं। इन्हें पढ़ते ही मस्तिष्क में कुछ रहस्यमयता की छाप पड़ जाती है। न स्वर, न ताल फिर भी झंकार! और शून्य में उसका विहार! उसी प्रकार अन्यत्र—

हार मानने ही में तब तो
होगी मेरी जीत यहाँ।
आँखमिचौनी में तुम प्यारे
पलक मारते छिपे कहाँ[1]?

हारते हुए भी जीतना सामान्य तर्क-संगति के लिये आश्चर्य-जनक प्रतीत होगा ही। उसी प्रकार सोने के लिये जागने[2] अथवा विस्मृति के लिये स्मृति[3] का उल्लेख भी मस्तिष्क में अनायास ही कुछ कुतूहल पैदा कर देगा। असल में ऐसी व्याघातात्मक अथवा विरोधाभासात्मक कल्पनाओं की तह में अध्यात्मजगत के तत्त्वों अथवा परमात्मसत्ता की अनिर्वचनीयता ही निहित समझी जानी चाहिये। 'हरिऔध' ने इस अभिव्यञ्जना-प्रणाली की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"छायावाद का अनेक अर्थ अपने विचारानुसार लोगों ने किया है। परन्तु मेरा विचार यह है कि जिस तत्त्व का स्पष्टीकरण

---

१ झंकार पृ० १३६ (खोज)।

२ सो जाने के लिये जगत का यह प्रकाश है जाग रहा। पृ० १०४।

३ मुझे आत्मविस्मृत करने की तेरी स्मृति है तात। हुई। पृ० १०३।

असंभव है उसकी व्याप्त छाया ग्रहण करके उसके विषय में कुछ सोचना, कहना या संकेत करना असंगत नहीं। परमात्मा अचिन्तनीय हो, अव्यक्त हो, मन-वचन-अगोचर हो, परन्तु उसकी सत्ता कुछ न कुछ अवश्य है। उसकी यही सत्ता संसार के वस्तु-मात्र में प्रतिबिम्बित और विराजमान है।

क्या उसके आधार से उनके विषय में कुछ सोचना विचारना युक्तिसंगत नहीं? यदि युक्तिसंगत है तो इस प्रकार की रचनाओं को यदि छायावाद नाम दिया जावे तो क्या वह विडम्बना है? यह सत्य है कि वह अनिर्वचनीय तत्त्व अकल्पनीय, एवं मन, बुद्धि, चित्त से परे है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम उसके विषय में कुछ सोच विचार ही नहीं सकते।...... आकाश असीम हो, अनन्त हो, तो हो, खग-कुल को इन प्रपंचों से क्या काम? वह तो पर खोलेगा और जी भर उसमें उड़ेगा"[1]।

तात्पर्य यह कि मानव ज्ञान अपूर्ण है और इसी अपूर्ण ज्ञान और सीमित भाव-प्रकाशन-शक्ति के सहारे वह उन आध्यात्मिक तत्त्वों का मर्मस्थल छूना चाहता है जो मृगतृष्णा के समान सदा उससे कोसों दूर भागते चले जाते हैं। किन्तु अपूर्ण होते हुए भी मानव-जिज्ञासा अथक है और किसी न किसी रूप में उन तत्त्वों को अजेय उलझनों को सुलझाने की विफल अथवा अंशतः सफल

---

1 हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास-पृ० ५८३ और ५८५।

चेष्टा करती ही है। परिणाम होता है लौकिक-रूप-से-विरोधी भावों का परस्पर संमिश्रण और समन्वय।

रहस्यमय कल्पना के सुन्दर उदाहरणों से वेद और उपनिषदें भरी पड़ी हैं। ऋग्वेद का प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त[1] अथवा वह भाववृत्त-सूक्त[2] जिसमें 'न हाँ था' 'न नहीं था'—जैसी दुरूह कल्पनाएँ मौजूद हैं इसी रहस्यमय व्यञ्जना-प्रणाली का परिचायक है। उसी प्रकार उपनिषदों का यह कहना कि 'पूर्ण में से पूर्ण निकलने पर पूर्ण ही शेष रहता है[3]' हमारी सामान्य बुद्धि से परे मालूम होता है।

---

१ ऋग्वेद म० १० सू० ९०—

सहस्रशीर्षा: पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।

इत्यादि।

२ ऋग्वेद म० १० सू० १२९—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥

आदि।

३ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

बृहदारण्यकोपनिषद्। पंचमाध्याय का आरंभ और अन्यत्र कई स्थानों पर भी।

हिंदी के अपभ्रंशयुग में वज्रयानी सिद्धों ने भी रहस्यमय भाषा का प्रयोग किया था जिसे 'संध्या भाषा' के नाम से पुकारा जाता है। कबीर की उलटवाँसियाँ[1] भी अस्पष्ट प्रतीकों (Symbol) के रूप में ईश्वर, जीव, माया संबन्धी सिद्धान्तों के व्यक्ती-करण-मात्र हैं।

आज की हमारी कविताओं ने रहस्यमय उक्ति का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत कर दिया है। वे केवल परमात्मसत्ता अथवा अध्यात्मतत्त्वों में ही सीमित न रह कर अनन्त धाराओं में बह चली हैं। और उचित भी है। क्योंकि हमारा सारा जीवन ही एक पहेली है। हम अपनी किसी भी प्रगति में नियत कार्य–कारण–संबन्ध स्थापित नहीं कर पाते। अतः यदि हम अपनी सारी प्रगतियों में रहस्यमयता का संनिवेश करें तो हानि ही क्या? वर्त्तमान युग तर्क का जमाना है, जमाना है जिज्ञासा का। किन्तु ज्यों ज्यों जिज्ञासा की 'विहग-बालिका' अपने पंख फैलाती है त्यों त्यों उसे अपनी सीमाओं, अपने बँधे पैरों, का ख्याल भीषण-तर रूप धारण करता जाता है, और फलतः वह मसोस कर रह

---

१ बैल बियाइ गाइ भइ बाँझ।
बछरा दूहै तीनिउ साँझ॥

अथवा

मूसा बैठा बांबि में लारै साँपिणि धाइ।
उलटि मुसै साँपिणि गिली, यह अचरज है भाइ॥

इत्यादि॥

जाती है। रहस्यवाद इसी मसोस का शब्दमय अभिव्यंजन है। पंत की ये पंक्तियाँ—

न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझ को मौन[1]।

अथवा—राय कृष्णदास के ये शीर्षक—

निर्गुण वीणा।
अनुराग-विराग।
स्थायित्व में स्थायित्व।
निरुद्देश निर्माण की सफलता।
संताप की शीतलता।
अभाव में आविर्भाव[2]।

—सभी परस्पर-विरोधी भावनाओं के सुखद सम्मिलन और रहस्यमय समन्वय के ज्वलन्त उदाहरण हैं। 'हरिऔध' के शब्दों में—"छायावादी कवियों की नीरवता में राग है, उनके अन्धकार में अलौकिक आलोक, और उनकी निराशा में अद्भुत आशा का संचार। वे ससीम में असीम को देखते हैं, बिन्दु में समुद्र की कल्पना करते हैं और आकाश में उड़ने के लिये अपने विचारों को पर लगा देते हैं"[3]।

---

१ 'पल्लव' से उद्धृत।

२ रायकृष्णदास की 'साधना' से उद्धृत।

३ हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—पृ० ५९३

हम स्वीकार करते हैं कि रहस्यवाद या छायावाद के नाम पर अत्याचार भी कम नहीं हुए हैं। और एक प्रकटवादी[1] समालोचक के निम्नलिखित कथन में सत्य का अंश न हो, सो नहीं:—

"परन्तु एक दल ऐसे ढोंगी कवियों का है जो समझते हैं कि उन्हें ही परमात्मा ने उपयुक्त पात्र समझ कर विश्वरहस्य का पिटारा सौंप दिया है। ऐसे छायावादी कवि (mystic poets) अपनी हृत्तंत्री झंकृत करते हुए बड़े वेग से किसी विचित्र सत्य की खोज में अनंत की ओर दौड़ते हैं। कुरंग की भाँति कस्तूरी की खोज में वे दिन रात परेशान रहते हैं, फिर भी उन्हें भास नहीं होता कि सत्य उनमें ही है, शब्दाडंबर में नहीं। प्रायः वे ऐसी लाइनें लिखते हैं जिनकी व्याख्या कदाचित् वे स्वयं न कर सकें[2]"। उसी प्रकार बालकृष्णराव ने भी छायावाद को 'प्रमाद का प्रसाद रूप' बतलाते हुए निम्नलिखित व्यंग्य कहे हैं:—

रहते बजाते टूटे तारों की विपंची सदा
शून्य में भी नित्य वहाँ होता एक नाद है।
बहते अनन्त अंतरिक्ष ओर नित्य प्रति
रहता सदैव मूक वाणी का प्रमाद है।

---

१ 'सुधा' (दिसम्बर, १९३६) में एक कवि की कविता के संबन्ध में 'प्रकटवादी' पद का प्रयोग किया गया था।

२ नवम्बर १९३१ की 'माधुरी' में प्रकाशित श्री भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए० के 'काव्य और कवि' शीर्षक लेख से उद्धृत।

करुण विहाग का सुनाई देता राग सदा
रहती अतीत स्मृति एक एक याद है।
यही है प्रमाद का प्रसाद रूप छायावाद
प्रतिभा सुकवियों की जहाँ अपवाद है[1]।

माना कि छायावाद के नाम पर प्रमाद की भी कमी नहीं है और ऊटपटांग लाइनें भी लिखी गई हैं, किन्तु उन्हीं उच्छृङ्खलताओं के कारण सारे रहस्यवाद अथवा छायावाद के साहित्य को गैरकानूनी करार देना शायद उनसे भी बड़ी उच्छृङ्खलता होगी।

रहस्यवादी कविता की रहस्यवादिता का प्रतिपादन ब्राड्ले (Bradley) ने बड़े भावपूर्ण शब्दों में किया है:—

सच्ची कविता पूर्ण-विचारित एवं स्पष्ट रूप से परिभाषित भावों का अलंकरण मात्र नहीं; यह तो विकास और निश्चितता की ओर अग्रसर होते हुए एक धूमिल-कल्पना-पुंज के रचनात्मक आवेग की उपज होती है। यदि कवि पूर्व से ही यह जानता कि ठीक ठीक उसके क्या अभिप्राय होंगे तब वह कविता करता ही क्यों? तब तो पूर्व से ही कविता लिखी-लिखाई-सी होगई, क्योंकि कविता की समाप्ति होने पर ही कवि को भी पता चलेगा कि उसका अभिप्राय यही था। जब उसने रचना आरम्भ की और जब तक उसमें संलग्न था, तब तक उसका भावों पर आधि-

---

१ बालकृष्ण राव—कौमुदी—पृ० ६५।

पत्य न था। प्रत्युत भावों का ही उस पर आधिपत्य था।......
और यही कारण है कि ऐसो कविताएँ हमें रचनाएँ प्रतीत होती
हैं, न कि निरी योजनाएँ; और इनमें वह जादू-की-सी शक्ति रहती
है जो केवल आभरण से नहीं आ सकती। इसी कारण यह भी
है कि यदि हम ऐसी कविता के अभिप्राय के लिये आग्रह करें
ही, तो अधिक से अधिक यही उत्तर मिल सकता है कि-इसका
अभिप्राय यही है'।

Pure poetry is not the decoration of a pre-coneived and clearly defined matter : it springs from the creative impulse of a vague imaginative mass pressing for development and definition. If the poet already knew what he meant to say, why should he write the poem ? The poem, in fact, wuld be already-written. For only its completion can reveal, even to him, exactly what he wanted. When he began and while he was at work, he did not possess his meaning; it possessed him...... And this is the reason why such poems ,strike as a creations not manufactures and have the magical effect which mere decoration .can not produce. This is also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem, we can only be answered: It means itself.

Bradley:—Oxford Lectues on Poetry.

इन आलोचनाओं के हृदयंगम करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि छायावादी कविता-प्रणाली उपादेय है और उस का भविष्य बहुत उज्ज्वल है[१]। अतः यदि गुप्तजी ने भी यत्र तत्र इस प्रणाली को आश्रय दिया तो इससे उनकी प्रगतिशीलता ही प्रगट होती है अगतिशीलता नहीं।

(ख) माधुर्यभाव-भरित भगवद्भक्ति की परम्परा हिन्दी साहित्य में शताब्दियों से चली आती है—अपभ्रंशयुग से ही। विश्लेषण की दृष्टि से माधुर्यमय रहस्यवाद के दो विभाग हो सकते हैं।

(१) दार्शनिक।

(२) काव्यगत।

दार्शनिक रहस्यवाद का आधार है औपनिषदिक सर्वात्मवाद अथवा ब्रह्मवाद जिसमें ब्रह्मानंदास्वादन-सुख को सहवास-सुख से सौगुना कहा गया है। सांख्य-योग दर्शन ने भी जो आत्मा को पुरुष और प्रकृति को स्त्री का रूपक दिया है उसमें माधुर्य-भाव विद्यमान है। बौद्ध धर्म जब अवनति की ओर ढल रहा था तो उसने क्रमशः तांत्रिक रूप धारण किया और वज्रयान के नाम से प्रगट हुआ। इस यान के अनुयायी सिद्धों ने महासुख-वाद के सिद्धान्त का प्रचार किया जिसके अनुसार सहवास-सुख और महानिर्वाण-सुख को समकक्ष माना गया। देवी-देव-

---

१ हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—हरिऔध पृ० ५९० ।

ताओं के 'युगनद्ध' स्वरूप की कल्पना करनेवाले संतों ने डोमिन धोबिन आदि के साथ स्वैरविहार को अपनी साधना का प्रमुख अंग मान लिया और हठयोग आदि की बातों का रहस्यमय संमिश्रण करके 'संध्याभाषा' में अपने इस सहवाससुख को भगवत्प्राप्तिजन्य आनन्द का प्रतीक मान कर उस विषय के दोहे लिखे और अपने बीभत्स व्यापार को आध्यात्मिकता का मिथ्यां-वरण दिया।

वज्रयानियों का महासुखवाद जब नाथपंथ से चल कर कबीर तक पहुँचा तो इसका रूप श्लील और परिष्कृत होगया। इसके अतिरिक्त माधुर्य का काव्यगत रूप भी निखर आया। हमने ऊपर कहा है कि सांख्य द्वारा आत्मा को पुरुष और प्रकृति को स्त्री का रूपक देना दार्शनिक रहस्यवाद की कोटि में शुमार किया जायगा। किन्तु यही रूपक जब तर्क और चिन्तना के क्षेत्र को छोड़ कर कल्पना के पंखों के सहारे भावुकता के गगन में पहुँच जाता है तो काव्यगत रहस्यवाद को जन्म देता है, क्योंकि माधुर्यभाव इसी का भावुक रूप है जिसमें परमात्मा की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है और जगत् के नाना रूप स्त्री-रूप में देखे जाते हैं[1]।

माधुर्यभाव की वह धारा जो वज्रयानियों से आई थी कबीर

---

१. श्यामसुन्दरदास—कबीर ग्रन्थावली—पृ० ५७।

में शुद्ध काव्यगत रूप में दिखाई पड़ी। इस रूप पर सूफियों के प्रेममार्ग तथा वैष्णवों के मधुर भक्तिमार्ग की भी छाप पड़ी थी। कबीर कभी तो अपने आराध्यदेव 'राम' को अपना बालम मान कर उनके विरह में तड़पने लगता था, और कभी उनसे मिलकर अपने सोहाग की प्रशंसा करता था, और कभी तो मिलन की घड़ियाँ कैसे कटेंगी—इसी शङ्का में बेचैन हो जाता था[1]।

---

1 देखिये कबीर की निम्नलिखित पंक्तियाँ—

(i) तड़फै बिनु बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निदिया तड़फ-तड़फ के भोर किया।
तन मन मोर रहट अस डोलै सूनि सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भए पंथ न सूझै सैंयाँ बेदरदी सुध न लिया।

(ii) बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुम मिलन को मन नाहीं विसराम॥

(iii) दुलहिन गावहु मंगलचार।
हमरे घरे आए राम भतार॥

(iv) सखो सोहाग राम मोहि दीन्हा॥

(v) मन प्रतीति ना प्रेम रस ना इस तन में ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूँ कैसी रहसी संग॥

—इत्यादि॥

दादू ने स्पष्टतर शब्दों में घोषित किया था कि—
हम सब नारी एक भतार।
सब कोई तन करै सिंगार॥

जायसी ने भी भगवान की प्रेम-परक भक्ति का मार्ग दिखाया किन्तु कबीर और जायसी की प्रेमपद्धतियों में कुछ ध्यान देने योग्य अंतर थे। प्रथम तो यह कि हिन्दू-मुसलमानों के समानरूप से प्रेम का भाजन होते हुए भी कबीर का राम निर्गुण है, परोक्ष है; किन्तु जायसी ने लौकिक कथानकों का प्रेम-मय चित्रण करके हिन्दू-मुसलमानों के प्रत्यक्ष जीवन की रागात्मक एकता प्रतिपादित की और प्रत्यक्ष जीवन में ही भगवान को प्रत्यक्ष करने की राह बताई। दूसरी बात यह कि जायसी की दृष्टि में 'प्रेम की पीर' की जितनी महत्ता है उतनी कबीर की दृष्टि में नहीं। कबीर में संभोग पक्ष भी उतना ही प्रबल है जितना वियोग पक्ष। संभवतः अधिक; किन्तु जायसी में वियोग पक्ष की ही प्रधानता है—ईश्वर का विरह ही सूफी साधक की सच्ची सम्पत्ति है। तृतीय अंतर यह है कि कबीर का माधुर्य सूफीमत से प्रभावित होते हुए भी सर्वतोभावेन भारतीय ही रहा, रामानंद के हाथों दीक्षित होने एवं वैष्णव संतों की संगति तथा हिन्दू वातावरण में रहने के कारण उनकी ईश्वरभावना में विजातीयता का अधिक समावेश हो ही नहीं सकता था। किन्तु जायसी का माधुर्य सूफीभावना से दूर-किनार नहीं रह सका। कबीर के लिये फिर भी उसका आराध्य उसका प्रणयी है; किन्तु 'पद्मावत' तथा ऐसी अन्य प्रेमगाथाओं के अध्ययन से यह भान होता है कि जायसी ने जीवात्मा को 'जोगी' अथवा साधक पुरुष के रूप में कल्पित किया है और परमात्मा को उस

की प्रणयिनी के रूप में; क्योंकि हम जानते हैं कि सूफियों के 'मजनूँ को अल्लाह भी लैला नजर आता' था।

उधर शुद्ध वैष्णवपरम्परा के माधुर्यभाव के प्रथम विकास के लिये हमें दाक्षिणात्य निम्बार्क (१२ वीं शताब्दी) और विष्णु स्वामी (१३ वीं शताब्दी) के क्रमशः द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करना होगा।

निम्बार्क ने राधा और कृष्ण के मधुर युगल को तथा विष्णु स्वामी ने रुक्मिणीवल्लभ विष्णु को ही अद्वैत ब्रह्म का व्यावहारिक तथा भक्ति-सुलभ रूप माना है। वल्लभाचार्य (१६ वीं शताब्दी) में चल कर माधुर्यप्रधान वैष्णव भक्तिपद्धति की लहर दक्षिणी ही नहीं वरन् उत्तरी भारत में भी एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गई। वल्लभ के पुत्र विट्ठल और उनकी प्रसिद्ध 'अष्टछाप' ने यह लहर हिन्दी के अंचल तक पहुँचाई और सूरदास तथा नंददास की मधुर पदावलियों से हिन्दी का काव्य-कलेवर तंत्रिल हो उठा। भारत के उत्तर-पौरस्त्य प्रदेशों में माधुर्यभाव की काकली कूजित करनेवालों में मैथिल-कोकिल विद्यापति, चंडीदास और चैतन्य के नाम उल्लेखनीय हैं। वैष्णव परम्परा के इस माधुर्यभाव में रहस्यमयता का अंश कम है, किन्तु शून्य नहीं; क्योंकि राधाकृष्ण के स्पष्ट, तथा कहीं कहीं उद्दाम, शृंगार के वर्णनों में भी—खास कर सगुणवादी संतों के वर्णनों में—अध्यात्म-प्रेम की अन्तर्धारा अवश्य प्रवाहित होती है। और इसी अन्त-

धारा के आधार पर हम उनमें रहस्यमयता का समावेश कर सकते हैं।

जब मीरा ने अपनी वीणा उठाई और उसके तारों को छेड़ा तो उनसे निकल कर गूँजती हुई संगीत की लहरियाँ इन्द्रधनुष बन कर निर्गुण और सगुण दोनों दिग्विभागों में छा गईं। उसकी नारीसुलभ भावुकता ने जहाँ भी माधुर्य का स्रोत देखा वहीं डुबकियाँ लगाईं। अतः कभी तो हम उसे 'मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई' गाते हुए रास रचाते देखते हैं, तो कभी 'निर्गुण सेज' बिछा कर अपने प्रियतम का आवाहन करते पाते हैं[1]। रहस्यमयता की दृष्टि से मीरा का स्थान सामान्य वैष्णव संतों से कहीं ऊँचा है और उसकी पदावली कहीं अधिक चुभीली एवं कसकीली[1]।

---

[1] ऊँची अटरिया लाल किवरिया निर्गुण सेज बिछी।
पंचरँगी झालर सुभ सोहै, फूलन फूल कली।
बाजूबंद कडूला सोहै सेंदुर माँग भरी।
सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली॥
सेज सुखमना मीरा सोवै सुभ है आज घरी।
तुम जावो राणा घर अपने, मेरी तेरी नाहि सरी॥

[1] तुलना कीजिये 'यामा' की भूमिका—पृ० ४ :—

प्राचीन हिन्दी साहित्य का भी अधिकांश गेय है। तुलसी का इष्ट के प्रति विनीत आत्मनिवेदन गेय है। कबीर का बुद्धिगम्य तत्त्वनिदर्शन संगीत

नवयुग-काव्य के माधुर्य-मधुप ने उपरिकथित साहित्य के सभी सुमनों से मधुकरियाँ माँगकर उनके सौरभ से अपने सदन को सुवासित किया। "आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूपमें ग्रहण कर रहे हैं वह इन सबकी विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्यभाव-सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेहसंबन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को अवलंब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका"[२]।

प्रिय चिरन्तन है सजनि
क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं[१]।

की मधुरता में बसा हुआ है। सूर के कृष्ण-जीवन का बिखरा इतिहास भी गीतमय है, और मीरा की व्यथासिक्त पदावली तो सारे जगत की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है।

२ महादेवी वर्मा—'यामा' की भूमिका पृ० ६।

१ यामा पृ० २१९ (सांध्यगीत)।

—जैसी पंक्तियाँ इसी निराले स्नेहसंबन्ध की द्योतक हैं।

अथवा ये—

आ मेरी चिर मिलन-यामिनी !

....

तम में हो चल छाया का क्षय
सीमित की असीम में चिरलय
एक हार में हों शत शत जय
सजनि ! विश्व का कण कण मुझ को
आज कहेगा चिर सुहागिनी[2]।

'झंकार' में माला, खोज, भूलभुलैया, आँखमिचौनी, वञ्चिता, ज्ञान और भक्ति, चोर चोर ! असावधाना, कुहक, बस बस, उत्कंठिता—आदि ऐसी कविताएँ हैं जिनके आधार पर हम गुप्तजी की माधुर्यभावना को आँक सकते हैं। इन कविताओं की मुख्य भावना है भगवान-रूप-पुरुष के प्रति भक्त-रूप नारी का प्रणय-निवेदन। उदाहरणतः—

---

२ यामा पृ० १४४ (नीरजा)।

चोर चोर !
घर के पीछे हो उठा शोर
मैं जाग पड़ी
हो गई खड़ी
फिर चौंकी ज्यों चौंके चकोर
चोर चोर[1] !

अथवा—

दूती ! बैठी हूँ सज कर मैं
ले चल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से
धाम धरा धन सब तज कर मैं[2] ।

इसी प्रकार अन्य बहुत सी पंक्तियाँ उद्धृत की जासकती हैं जिन में कवि अपने वनमाली के प्रेम में उसकी रानी बन उससे लुकता है, छिपता है और आँखमिचौनी खेलता है। जो भी हो, गुप्तजी की क़लम से निकली हुई ऐसी लाइनें पढ़ने पर हृदय में उस मधुरिमा का संक्रमण नहीं हो पाता जिसका महादेवी वर्मा की लाइनें पढ़ने से हुआ करता है। कविता में कवि का हृदय होना चाहिये, श्रमजन्य अनुकरण नहीं। किन्तु यह स्पष्ट है कि 'झंकार' की माधुर्यमय पंक्तियाँ नीरस नकल हैं—काव्य का कलेवर

---

१ झंकार (छलना) पृ० १४८ ।

२ झंकार (उत्कंठिता) पृ० १६१ ।

तो है, किन्तु न तो उसके पहलू है न उस पहलू में दिल, और न है उस दिल में रस की मधुर धारा। एक तरफ़ तो इन पंक्तियों के स्रैण का हृदयंगम कीजिये और दूसरी ओर कवि की 'भारत-भारती' जैसी रचनाओं के उग्र पौरुष को—दोनों में संगति मिलना कठिन हो जाता है। गुप्तजी के काव्यसाम्राज्य में माधुर्यपरक पद्य दत्तक-पुत्र के समान गोद लिये गए भान होते हैं अथवा जहाँ तहाँ ऊसर में खड़े खजूरों के समान निष्प्रभ मालूम होते हैं।

(ग) विप्रलम्भ पक्ष का प्राबल्य और उससे प्रेम:—माधुर्यभाव की सामान्य आलोचना करते हुए पिछली पंक्तियों में यह प्रतिपादित किया गया है कि जितनी मार्मिक अभिव्यंजना 'प्रेम की पीर' की जायसी में है, उतनी कबीर में नहीं, विप्रलम्भ पक्ष का जितना प्राबल्य जायसी में है, उतना कबीर में नहीं। यह उक्ति केवल जायसी के ही पक्ष में नहीं, अपितु अन्य प्रेम-गाथा-कवियों के संबन्ध में भी घटित होती है; उदाहरणतः 'मंझन' की 'मधुमालती' में—

विरह अवधि अवगाह अपारा
कोटि माहि एक परै न पारा
विरह कि जगत अँबिरथा जाहीं
विरह रूप यह सृष्टि सबाहीं।

प्रेमाख्यानक कवियों का विप्रलम्भ सूफीमत की सीधी देन है, क्योंकि उसके अनुसार साधक का ईश्वर से विरह चिरस्थायी

होता है। विरह की 'मधुर पीर' की कोमल अभिव्यंजना ही सूफी काव्यों का मुख्य ध्येय है, 'प्रेम की पीर' ही उनकी प्रधान सम्पत्ति है।

यद्यपि प्रेमाख्यानक काव्यों से सूर आदि के कृष्णावत काव्यों के विप्रलम्भ से कोई सीधा संबन्ध नहीं माना जा सकता, फिर भी विचारधारा के विकास की दृष्टि से सूर और नन्ददास के 'भ्रमरगीतों' के उन पद्यों को हम अवश्य शामिल कर सकते हैं जिन में यह बताया गया है कि क्रमशः वियोग की व्यथा में पीड़ित रहना ही गोपियों को इष्ट हो चुका है, वे अपनी वेदना में ही आनन्द के मकरन्दबिन्दुओं का आस्वादन करने लगी हैं। वे कहती हैं:—

ऊधो तुम अति चतुर सुजान।
जे पहिले रँग रँगी स्याम रँग तिन्ह न चढ़ै रँग आन।
बिरहिन बिरह भजै पालागों तुम हो पूरन ज्ञान।
दादुर जल बिनु जिवै पवन भखि मीन तजै हठि प्रान॥

पर ऐसे पद्य भ्रमरगीतों की सामान्य भावना के प्रतीक नहीं माने जा सकते क्योंकि इनमें विरह पक्ष प्रबल तो है किन्तु प्रिय नहीं। विरह का प्रबल होना और बात है, उसको सञ्चित निधि मान कर उस से प्रेम करना और।

मीरा की प्रेमसाधना में भी सूफी कवियों की 'पीर' नहीं है।

मीरा की आध्यात्मिक प्रेम की दुनियाँ में संयोग पक्ष ही प्रबल है, वियोग पक्ष नगण्य।

किन्तु वर्त्तमान युग में—विशेषतः महादेवी वर्मा की कविताओं में—'प्रेम की पीर' एक बार फिर तरंगित हो उठी है। कवयित्री प्रियतम से दूर होती हुई भी, 'अखण्डसुहागिनी' है[1]; उसने अपने दुख को, अपनी वेदना को, बड़े लाड़-प्यार से पाला पोसा है-

प्रिय! जिसने दुख पाला हो!
जिन प्राणों से लिपटी हो
पीड़ा सुरभित चंदन-सी
तूफानों की छाया हो
जिसको प्रिय-आलिंगन-सी
जिस को जीवन की हारें
हों जय की अभिनन्दन-सी
वर दो यह मेरा आँसू
उस के उर की माला हो[2]!

गुप्तजी की 'झंकार' में भी नवयुग की वे भावनाएँ गुंजित हो रही हैं जिनमें 'वेदना के मधुर क्रम में' ही तृप्ति मिलती है, बन्धन में रहने में ही मजा मालूम होता है।

---

१ यामा (नीरजा) पृ० १३१।

२ यामा (नीरजा) पृ० १५८।

वे कहते हैं—

सखे ! मेरे बन्धन मत खोल
आप वंध्य हूँ, आप खुलूँ मैं
तू न बीच में बोल[१] !

अथवा सूफी विचार से मिलती-जुलती ये पंक्तियाँ—

सिद्धि का साधन ही मोल
सखे मेरे बंधन मत खोल[२] !

कवि को यह घोषित करते हुए गर्व है कि—

मैंने एक व्यथा—व्याली
पाली इस घट में डाली
व्याली की मणि उजियाली[३] ।

उसे यह तमन्ना है कि उसके भगवान एक बार खीज उठें, तभी तो वह उस विकलता में आनन्द से क्रन्दन कर उठेगा; और क्रन्दन का अभिनन्दन उसे इष्ट भी है:—

एक पुकार, एक चीत्कार
मुझे चाहिये आज उदार[४] !

१-२ झंकार (बंधन) पृ० २५ ।

३ झंकार (स्वरभंग) पृ० ८४ ।

४ झंकार (स्वरभंग) पृ० ८४ ।

रहस्यवादी कविता की इस कारुणिक वेदना-प्रियता का मूल निहित है हमारे कुंठित राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार और रस्मोरिवाज में। अतः यदि गुप्तजी की भावुकता में भी यह प्रवृत्ति परिलक्षित हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

(घ) छन्दों की स्वच्छन्दता:—जब नवयुग ने छन्दों के रंग ढंग में परिवर्त्तन किया और मनमाने आकार-प्रकार के छन्दों की रचना शुरू हुई, तब दकियानूसी आलोचकों ने उन्हें 'रबड़ छन्द', 'स्वच्छन्द छन्द' 'केंचुआ छन्द' 'कांगरू छंद' आदि व्यंग्यात्मक संज्ञाएँ दीं। किन्तु जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले; छन्दों ने अपनी काया पर व्यक्तित्व और प्रगतिशीलता की मुहर लगा ही छोड़ी। इस प्रगति के विरोधकों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी भी थे। उन्होंने लिखा है—

"ये लोग बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दों या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छःपदे कोई ग्यारह-पदे! कोई तेरहपदे! किसी की चार सतरें गज़ गज़ भर लम्बी तो दो सतरें दो ही दो अँगुल की"। इन कारणों से द्विवेदीजी ने 'आजकल के छायावादी कवि और कविता' शीर्षक लेख में उन्हें अस्पृश्य माना है।

किन्तु हमारा मत है कि प्रत्येक युगविशेष को कविता की वेश-भूषा में परिवर्त्तन करने का पूर्ण अधिकार है। यदि हम ने सदियों की मनोवृत्तियों को दूर फेंक दिया है, तो सदियों से आती हुई

घाँघर और घूँघट को भी हटाना पड़ेगा। यदि क्रान्ति की भावनाओं से उतावला युवक पुरानी लकीरें न पीट कर नई रंगरलियाँ और अनूठी अठखेलियाँ दिखावे, तो बुरा क्या ? इसके अतिरिक्त भाषा या शैली भाव के व्यक्त करने का माध्यम है; अतः भाव को स्वतंत्रता है कि अपनी अँगुली के इशारे भाषा को नचावे।

उदाहरणतः कवि रवीन्द्र की निम्नलिखित पंक्तियाँ:—

हे सम्राट कवि
एइ तव हृदयेर छवि
एइ तव नव मेघदूत
अपूर्व, अद्भूत
छन्दे गाने
उठियाछे अलक्ष्येर पाने ॥

क्या कवि का इन लाइनों के लिखते समय यह देख लेना जरूरी था कि ये पिंगल ऋषि के छन्दःशास्त्रीय नियन्त्रणों से बगावत तो नहीं करतीं ? हर्गिज नहीं। यह ठीक है कि अनधिकारचेष्टा अथवा अपरिणत मस्तिष्क की उच्छृङ्खलता कभी भी उचित नहीं है, किन्तु साथ ही साथ यह भी ठीक है कि परिणत प्रतिभा के मौलिक विकास की गतिविधि को कुंठित करना साहित्य के प्रगतिशील व्यक्तित्व पर कुठाराघात करना है। हिन्दी के नवयुगीन कवियों में 'निराला' का स्थान निर्बन्ध छन्दों की रचना की दृष्टि से औरों से अधिक प्रौढ़ है। उन्होंने 'परिमल'

की भूमिका में अपने मुक्तछन्दों की न्याय्यता प्रतिपादित करने के लिये वेदमंत्रों तक का हवाला दिया है तथा उन की परिभाषा यों दी है—

"मुक्त छन्द तो वह हैं जो छन्द की भूमि में रह कर भी मुक्त हैं.........उनमें नियम कोई नहीं है.........मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उस की मुक्ति"।

तात्पर्य यह कि यदि हमारी लाइनों में लय हो, प्रवाह हो, संगीत हो, तो खामोखाह अक्षरों और मात्राओं की संख्या के पीछे माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं है।

गुप्तजी की 'झंकार' में भी कुछ ऐसे पद्य हैं जिन्हें हम स्वच्छंद छंद की पाँत में बिठा सकते हैं। यथा—

यह हँसी कहाँ?
तुम कौन यहाँ?
यह वंचकता कैसी कठोर!
चोर चोर[1]!

इन पंक्तियों में कवि की व्यक्तिगत संगीतभावना ही 'प्रमाणम्' है छन्दः शास्त्रों के पचड़ों में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं। नपे-तुले सांचों में काव्यकलसों के ढालने का समय बीत गया; और बीता हुआ समय 'न पुनरावर्त्तते! न पुनरावर्त्तते!'

---

१ झंकार (छलना) पृ० १५०।

नाटक

२५

'तिलोत्तमा' लगभग सौ पृष्ठों का, पौराणिक इतिवृत्त पर आधारित, एक रूपक है। संक्षिप्त कथा-वस्तु यह है :—

अंक १

दैत्यगण उत्सव मना रहे हैं कि—

> हाँ रे दिन फिर फिरे हमारे।
> नही फिरेंगे अब अनाथ-से हम सब मारे-मारे ॥

कारण यह है कि सुंद और उपसुंद नामी दैत्यराजों को तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने यह वरदान दिया है कि 'तुम दोनों को दूसरा कोई मार नहीं सकता।' अब तो स्वभावतः दानवों के हृदय में अपने चिर-शत्रु देवताओं से बदला लेने और निष्कंटक राज्य करने की लालसा प्रबल हो उठी है।

अंक २

उधर इन्द्र और कार्तिकेय भी देवकुल की रक्षा के लिये बद्धपरिकर हैं। इन्द्राणी के हृदय में शंका हो रही है कि देवासुर-संग्राम का परिणाम विषम न हो। किन्तु क्रमशः उसका भय जाता रहता है। कुमार जयन्त भी रण के लिये चल पड़े हैं।

अंक ३

कुबेर, वरुणादि देव तथा सुंद, उपसुंदादि दानव परस्पर भिड़ गए हैं। किन्तु दानव प्रबल सिद्ध होते हैं। देवताओं को संयोगवश वरदान-वाला रहस्य मालूम हो जाता है और इधर युद्ध तो किसी कदर जारी रहता है, उधर देवगण यह सोच रहे हैं कि यदि वे दूसरों से नहीं मारे जा सकते तो उनमें आपस में ही फूट पैदा करनी चाहिये। फलतः इन्द्र ब्रह्मा के ही पास उनके दियें वरदान के प्रतीकारार्थ जाते हैं।

अंक ४

विजयोन्मत्त सुंद और उपसुंद के पास उनका मर्त्यलोक-विजयी सैनिक 'भयंकर' हिमालय की गुफाओं में मिली हुई दो अप्सराओं को प्रस्तुत करता है। उर्वशी और रम्भा सुंद और उपसुंद का संगीत द्वारा मनोविनोद करती हैं।

अंक ५

इन्द्राणी देवों के दैवविपर्यय से सोच में पड़ी हैं तब तक मेनका यह संवाद लाती है कि इन्द्र के आग्रह करने पर ब्रह्मा ने "सारे सुंदर पदार्थों का तिल-तिल भर सौन्दर्य-सार संग्रह करके एक अपूर्व सुंदरी मूर्ति निर्मित की" है—[1] तिलोत्तमा ! इसके अतिरिक्त, विन्ध्याचल पर वसन्त-सुषमा !

खिलती हुई कुसुमावली को चपल अलिदल चूमता
शीतल सुगंध समीर भी है धीर गति से घूमता
मद-तुल्य झरनों के अमल जल में कमल-कुल हँस रहा
पर विन्ध्यगिरि भी आज मानों मत्त गज-सा झूमता[2]।

सुंद और उपसुंद दोनों भाई 'प्रकृति-सुंदरी' की 'रोमाञ्चित' रूप-राशि निहार रहे हैं—पी कर मस्त !

उधर तिलोत्तमा प्रकट होती है, उन्हें आमंत्रित करती है—

आओ, हे जीवन-धन ! आओ ![3]

किन्तु कहती है कि—मैं संकट में पड़ी हूँ; शत्रुओं ने सब

---

१ तिलोत्तमा पृ० ८५।

२ „ „ ८८।

३ „ „ ९२।

संपदा हर ली है; अब मैंने प्रतिज्ञा की है कि संसार के सबसे शक्तिशाली पुरुष को ही वरण करूंगी। यह सुनकर दोनों भाई आपस में लड़ पड़ते हैं और उस कामिनी के लिये प्रतिस्पर्द्धा उनकी समाधि साबित होती है।

उपर्युक्त कथानक में कारुण्य-पूर्ण स्थल दो हैं—

(i) इन्द्राणी का मनोमालिन्य[1]; और—

(ii) सुंद उपसुंद की मृत्यु[2]।

(i) इनमें प्रथम परिस्थिति शरत्काल के बादल के समान आती है और फुहारे बरसा कर चली जाती है। इन्द्राणी का शोक घनीभूत भी न होने पाया है कि मेनका आकर शुभ संवाद देती है और देवराज्ञी के हृदय-कुसुम खिल उठते हैं। अतः कवि ने इस स्थल पर किसी ऐसे कारुणिक दृश्य अथवा कथनोपकथन का समावेश नहीं किया है जो हमारे मर्मस्थल की सञ्चित कारुण्यधारा को छलका दे और वह पुतलियों से ढुलक पड़े। किन्तु यह अवश्य है कि कारुण्य के उद्बोधन की जो कुछ थोड़ी-सी सामग्री जुटाई गई है उसमें पूर्वापर दशाओं का वैषम्य ही प्रधान है। जो व्यक्ति सदा ही दुखी रहा—आँसू में पला और आँसू में गला भी—उसके हृदय में कारुण्य का स्रोत सूख-सा जाता है। किन्तु जो दूध का धुला हो, यदि उसे

---

१ अंक ५ (विष्कम्भक)।

२ अंक ५ अंतिम खंड।

ही 'नील माट' में डुबोया जाय, तो अनायास ही उसके रोम-कूप से करुणा क्रन्दन कर उठेगी। इन्द्राणी को भी अतीत के वैभव की स्मृति काँटे-सी चुभ रही है।—

मेरा वह नयनाभिराम वर वैजयन्त-सा धाम कहाँ
कल्पलताकुञ्जों से शोभित दिव्य नन्दनाराम जहाँ
हाय विधाता! दैत्य दस्यु अब करते है विश्राम वहाँ
और रुदन भी कठिन हुआ है हमको आठो धाम यहाँ!

इस मनस्ताप में इन्द्रदेव भी नहीं हैं कि फोले सहलावें। खैर, जैसा ऊपर कहा गया है, इन्द्राणी का मनस्ताप शीघ्र ही मिट गया और 'इन डारन वै फूल' आ गए।

(॥) सुंद उपसुंद की मृत्यु कला की दृष्टि से अधिक विवेचनीय है। उसका जो चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है वह तीन शाश्वत सत्यों की ओर इंगित करता है-

(१) पराजित आततायी की भी मृत्यु हर्ष का विषय नहीं, अपितु शोक का।

(२) विजेता की विजय इसी में है कि वह अपने शत्रु की पराजय से द्रवित हो उठे।

(३) मरण के समय कलुषित हृदय में भी पुण्य की कली खिलने लगती है।

(१) दानवों के 'सूर्य-चन्द्र' दोनों अस्त हो चुके हैं। उनके सच्चे सेवक 'भयंकर' और 'विकराल' हाय मार कर रो रहे हैं।

अन्यत्र, तिरस्करिणी के पीछे दानवों में हाहाकार और देवताओं में जयजयकार की ध्वनियाँ गूँज रही हैं। ऐसी दशा में इन्द्र के लिये – विजय की वारुणी में माते हुए इन्द्र के लिये—खूब हँसना चाहिये था, आवेश में आकर पड़ी हुई लाशों पर भी दो चार वार करना चाहिये था। प्रतिहिंसा के नाते सब कुछ समर्थनीय हो सकता था। किन्तु, गुप्तजी ने सोचा, यदि चित्र का यही पहलू दिखलाया गया तो रजोगुण ने सत्त्वगुण को तिरोभूत कर दिया; दानवी प्रवृत्तियों का ही सिर ऊँचा हुआ। अतः उन्हों ने इन्द्र-जैसे महान चरित्र के अंकन में ऐसा न होने दिया। जब इन्द्र ने देखा कि दोनों दानव-वीर धराशायी पड़े हैं तो उन्हों ने अपनी सेना को 'हाल्ट' (Halt) का हुक्म दिया; उनके शवों के प्रति संमान की भावना दिखाई और यह कहते हुए उनके अनुचरों को अभय दान दिया कि "दुख में हम किसी से शत्रुता नहीं रखते, सहानुभूति ही रखते हैं"।

दुख में शत्रुओं से भी सहानुभूति—यह गुप्तजी के अमर संदेशों में से है। तिलोत्तमा—जिसने मक्कारी की थी, जिसने रमणी-रमणीयता की दीप-शिखा पर सुंद और उपसुंद रूपी शलभों को पहले नाच नचाया और फिर उन्हें भस्म कर दिया था,—वही तिलोत्तमा उनके निधन पर पिघल उठती है। दैत्यों का विलाप सुन कर उसकी नारी-सुलभ समवेदना बोल उठती

---

१ तिलोत्तमा पृ० १०३।

है—"कैसी कारुणिक पुकार है!"[1]

(२) आज से दो हजार वर्षों पहले, जिस दिन अशोक ने कलिंग में लाखों अरि-सैनिकों के खून की नदियाँ बहाईं, उस दिन प्रतिक्रिया रूप में, उसके हृदय में करुणा की सौ-सौ धाराएँ फूट पड़ीं। कलिंग-विजय उसकी भौतिक विजयों की अन्तिम दीप-शिखा सिद्ध हुई। उसने अपनी शोणित की प्यासी तलवार म्यान में रख दी; अहिंसावाद ने हिंसावाद को शिकस्त कर लिया और सम्राट ने मानवता को यह अमर संदेश दिया कि—"*धर्मविजय* ही सर्वोत्कृष्ट विजय है"[2]। इसी विजय का आवाहन किया है सिद्धार्थ ने 'यशोधरा' में,—'ला, हृदय-विजय-रस-वृष्टि-लाभ!' अशोक ने यह भी घोषित किया कि "उसका अनुताप क्लैव्य नहीं है, वह तो प्रभुत्व का प्रतीक है"। अतः जब प्रस्तुत नाटक में हम इन्द्र को अपने क्रूर प्रतिद्वन्द्वी के मरण पर आँसू बहाते तथा उसके यथोचित सम्मान के लिये प्रस्तुत पाते हैं, तो साथ ही साथ मानस की आँखों से अमरावती की अट्टालिकाओं पर 'धर्म-विजय' की वैजयन्ती भी अंकित और तरंगित देखते हैं।

यदि इस घटना पर दूसरी दृष्टि से विवेचना की जाय, तो भी इन्द्र की इस मनोभावना का समर्थन हो सकेगा। वस्तुतः कविता की विशेषता ही यह है कि वह देश, काल, पात्र के

---

१ तिलोत्तमा पृ० १०२।

२ पढ़िये अशोक का शिलालेख (Rock Edict) सं. १३।

व्यक्तित्व से हटा कर हमारी कल्पना को सर्व-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाय। मृत्यु चाहे परोपकारी की हो अथवा आततायी की, मृत्यु मृत्यु ही है। कटार की मार से आहत किसी निरीह बकरे का, अथवा बन्दूक की गोली लगने पर किसी नृशंस व्याघ्र का, खून के पनालों में छटपट छटपट करना और मर्मभरे चीत्कारों के बाद शून्य में सदा के लिये खुली आँखों से देखने लगना—भला किसके हृदय के मर्मस्थल को सजल न बना देगा। कवि की सफल तूलिका किसी काल-विशेष में किसी रस-विशेष का परिपाक इस तरह अंकित कर सकती है कि हमारी अनुभूति-मात्र सजग हो और सारी चिन्तना-प्रधान वृत्तियाँ सो जायँ, और जब चिन्तना ही सो जायगी तो देश, काल, पात्र का ध्यान आयगा ही कैसे! अतः, हमारी सम्मति में, असमय मृत्यु, चाहे न्याय्य हो अथवा अन्याय्य, पापी की हो अथवा पुण्यात्मा की—करुण रस का ही आलंबन बनेगी; हास्य, वीर अथवा बीभत्स की नहीं। सुंद-उपसुंद की महानिद्रा का सकरुण चित्रण और उनके प्रति प्रतिपक्षी इन्द्र की भी समवेदना—ये दोनों बातें गुप्तजी के सूक्ष्म एवं उदात्त मनोवैज्ञानिक अध्ययन की परिचायक हैं।

(३) गुप्तजी ने यह बताया है कि सुंद अपने प्रिय सैनिक विकराल से यही अन्तिम संदेश कहता है कि—तुमसे हमारा अंतिम अनुरोध यही है कि हमारे समाधि-मंदिरों की ऊँची-ऊँची पताकाओं पर, सब से पढ़े जाने योग्य, बड़े-बड़े अक्षरों में लिखवा देना कि—

सुन्द और उपसुन्द का है सब से अनुरोध
सावधान, देखो, कभी उठे न बन्धु–विरोध[1]।

परिस्थिति का यह चित्रण एक बहुत बड़े दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है—वह यह कि, मानव-हृदय दैवी और दानवी भावनाओं की चिरन्तन युद्ध-भूमि है। इस विश्व के सभी व्यक्तित्व में स्फुलिंग के रूप में ब्रह्म की विभूति छिपी हुई है, किन्तु उसे हमारी वासनाएँ राख बनकर ढक लेती हैं। फिर यही राख जब प्राण-पखेरुओं के पंखों की फड़फड़ाहट के कारण उड़ने लगती है, तो वह जीवन भर की कुण्ठित चिनगारी एक बार चमक उठती है। क्रूर से क्रूर हृदय में भी मरणासन्न होने पर अनुताप की ज्वाला जल ही पड़ती है। यदि सुंद और उपसुंद भी मृत्यु-शय्या पर पड़े अपने आप पर तरस खाते हैं और अपने पतन को दूसरों के उत्थान रूपी जहाज के लिये 'बेकन-लाइट' बनाना चाहते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या! यदि गुप्तजी इन कारुणिक परिस्थितियों का ऐसा नाजुक चित्रण न करते और इन्द्रादि देवताओं को अट्टहास करते हुए प्रदर्शित करते तो वह भी कारुण्य ही होता—लेकिन उग्र, कोमल नहीं; शुष्क, द्रवित नहीं; दानवीय, दिव्य नहीं!

---

1 तिलोत्तमा पृ० १०१

२६

(अ)

'*अनघ*' बौद्धकालीन जातक-साहित्य का ऐदंयुगीन रूपान्तरण है। बौद्धों के प्राचीन पाली-साहित्य में जातकों अथवा जन्मान्तर-कथाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन कथाओं में बोधिसत्त्व के भिन्न भिन्न जन्मों के 'अवदान' वर्णित हैं और यह प्रतिपादित किया गया है कि बोधिसत्त्व चाहे इन्द्र हुए हों चाहे रुद्र, चाहे राजा हों चाहे रंक, चाहे महिषी (रानी) हों चाहे महिषी (भैंस),—सभी परिस्थितियों में उनके चरित्र उदात्त और अवदात ही रहे। बौद्ध विद्वान आर्यसूरि ने चौंतीस प्रमुख जातकों का संस्कृत में छायानुवाद किया[1]। अपने ग्रंथ की

---

१ देखिये The Jataka-mala (Harvard Oriental Series, vol. I) Editor Dr. H. Kern तथा उसका आंग्लानुवाद Speyer द्वारा।

भूमिका में आर्यसूरि ने लिखा है कि इन जातकों का उद्देश्य धार्मिक कथाओं को रमणीय रूप देकर उन्हें लोकप्रिय बनाना है[1]। इन सभी जातकों की एक विशेषता यह है कि उनकी केन्द्रीय भावना किसी धर्म और आचार-विचार सम्बंधी सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है। उदाहरणतः 'क्षान्तिजातक' के आरंभ तथा उपसंहार दोनों स्थलों पर हमें यह उपदेशवाक्य अंकित मिलता है कि—'सदाचारी व्यक्ति शत्रुओं के हृदय को भी हर लेते हैं'[2]।

गुप्तजी का चरित्र-नायक मघ 'भगवान बुद्ध का एक साधनावतार' है; और उसे भी अपने जीवन द्वारा एक महान उपदेश देना है। वह उपदेश हम सिद्धान्तवाक्य के रूप में मुखपृष्ठ पर ही अंकित पाते हैं—

न तन-सेवा, न मन-सेवा
न जीवन और धन-सेवा;
मुझे है इष्ट जन-सेवा;
सदा सच्ची भुवन-सेवा।

ये पंक्तियाँ उस स्थल से उद्धृत की गई हैं जहाँ आवेश में मघ अपनी प्रेयसी सुरभि से अपना जीवनोद्देश्य उद्घोषित

---

१ स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः।

२ द्विषतामपि मनांस्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्त्तिनः।

करता है[१]। यशोधरा का परित्याग करते समय सिद्धार्थ की पुतलियों में भी तो इसी सेवा-भावना की मोहिनी मूर्त्ति आ बसी थी !

भुवन-भावने आ पहुँचा मैं
　　अब क्यों तू यों भीता है ?
अपने से पहले अपनों की
　　सुगति गौतमी गीता है[२]।

(आ)

'अनघ' के घटनाचक्र का आरंभ एक अरण्यप्रदेश में होता है जहाँ मघ के कंठ से निकली हुई -'विषम विश्व का कोना है !'—की तानें अँधेरी रात के निस्तब्ध अंचल-प्रदेश में भी वेदना और समवेदना की सिहरनें पैदा कर देती हैं;—उसी प्रकार जिस प्रकार सिद्धार्थ के 'ओ क्षण-भंगुर भव, राम ! राम !' की अन्तर्भावनाओं ने 'यशोधरा' में की हैं[३]। क्रमशः उस पर कुछ चोर आक्रमण करते हैं। मघ अपनी वीरता से उनके वार का प्रतिकार करता है और साथ ही साथ उनके द्वारा आहत एक दूसरे व्यक्ति का शुश्रूषोपचार करता है।

---

१ अनघ पृ० ९१।
२ यशोधरा पृ० ५।
३ ,, पृ० ९-१८।

किन्तु गाँव के मुखिया और ग्रामभोजक तथा राजकुलसेवी अनुचर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं क्योंकि वह 'सामाजिक विद्रोह' और 'नीचों को सिर चढ़ाने' के अभियोग का भागी है।

इन पापियों का भेजा हुआ एक सुरापायी मघ के घर आता है, और मघ तो चलता है सुधारने किन्तु बन जाता है उसके प्रहार का शिकार। माँ बचाने आती है, और घायल होती है।

इधर मालिन की पोष्यपुत्री, 'उच्च वंश की बाला' सुरभि के हृदय पर मघ छापा मार चुका है।

मघ लोक-सेवा में अकेला नहीं है। युवकों की टोली उसके साथ है।

मघ की माता और शुश्रूषणरता सुरभि! माता मघ से उसके विवाह करने का वचन लेती है।

ग्रामभोजक तो मघ का महा दुश्मन है किन्तु उसकी भार्या उसका समर्थक,—उसका और उसके सुधार कार्यों का।

राजा और रानी दोनों के हृदय में सात्त्विक भावनाएँ जाग्रत होती हैं।

मघ और सुरभि परस्पर प्रेमालाप कर रहे हैं कि इतने में एक खून से लथपथ व्यक्ति आता है, जिसे ग्राम के शासक ने कोड़े मारे थे। दोनों उसकी सेवा में लग जाते हैं।

षड्यन्त्रियों ने मघ का घर जला दिया है और उसे कारागार में भी निक्षिप्त कर दिया है।

मगध का राज-दरबार ! षड्यन्त्र का भंडाफोड़ ! मघ की निर्दोषता ! स्वयं रानी सुरभि का हाथ मघ के हाथों में देकर आशीर्वाद देती हैं।

(इ)

'अनघ' की कथावस्तु में सर्वत्र व्यापकरूप से विषाद की अन्तर्धारा प्रवाहित हो रही है। आरंभ में ही मघ इस संसार की दुर्नीतियों पर आँसू बहाता है—

है ऊपर ऊपर का हँसना
भीतर केवल रोना है !
विषम विश्व का कोना है[1] !

राजा प्रजा पर अत्याचार करता है, धनी गरीब पर, विद्वान अपढ़ पर, ऊँच नीच पर ! मानव की मानव के प्रति ये अमानवताएँ इस विश्व के रंगमंच पर एक कारुणिक दृश्य हैं।

Man's inhumanity to man
Makes countless thousands mourn.[2]

चोरों के द्वारा आहत व्यक्ति को देख कर मघ कराह उठता है—

यह जन वही है हाय !
रुधिराक्त, मरण-प्राय !

---

१ अनघ पृ० ३।

२ Burns : Despondeney.

धन हेतु जन-संहार !
यह क्या विषम व्यापार[1] !

गुप्तजी ने यह चित्रित किया है कि मघ को देख कर उसके प्रतिपक्षी भी प्रभावित हो जाते थे। वह अनुकम्पा की प्रतिमूर्त्ति था। उसकी परदुख-कातरता उसके चेहरे के आईने पर अंकित थी—

मुकुरता देखो तो इस मुख की—
पड़ी है छाया-सी पर-दुख की[2]।

साधारणतः, दुनियाँ में कौन किसका होता है ? सब अपनी अपनी धुन में मस्त हैं। आँख से अंधी ! पैर से लाचार ! जीर्ण शीर्ण चिथड़ों से अर्द्ध-नग्न, अर्द्ध-वेष्टित ! सड़क के एक कोने में कूड़े-कर्कट से भरी पगडंडी पर पड़ी ! भूख की भट्ठी में जलती ! 'दे दे राम ! दिला दे राम !' की करुण याचनाओं के साथ अनवरत रूप से हाथ फैलाए हुई !—ऐसी बुढ़िया पर भी तो कोई तरस नहीं खाता ! सेठजी ! बाबूजी ! डाक्टर साहब ! मजिस्टर साहब ! सेक्रेटरियट के अफसर ! कालेज के प्रोफेसर !—सभी के कानों के पर्दे पर 'दे दे राम ! दिला दे राम !' की ध्वनि टकराती है। किन्तु बुढ़िया की आवाज में इतनी ताकत

---

१ अनघ पृ० ८।

२ „ पृ० १७।

कहाँ कि सर सर करती हुई मोटर रुक जाय और पाकिट से एक पैसा निकल कर उसकी तलहथी में जा गिरे! मघ ऐसे हृदय-हीन व्यक्तियों के प्रति खीझ कर कहता है—

प्रतिवासी जब तक रोते हैं
तुम कैसे सो सकते हो?
अरे, हँसो तो मत जो उनके
साथ नहीं रो सकते हो[1]!

हृदय पर चोट करने वाली ऐसी पंक्तियों से नाटक भरा पड़ा है।

मघ अपने आततायियों के प्रति भी प्रतिहिंसा का भाव नहीं रखता। आग को शान्त करने के लिये घी नहीं चाहिये; चाहिये पानी। यदि गहरा विचारा जाय तो इस सिद्धान्त की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। तत्त्वतः, आततायी सबल भले ही हो, वह भौतिक रूप से उन्नत भले ही दीखे, किन्तु इसमें तो संदेह नहीं कि वह आध्यात्मिक रूप से पतित है; और पतन सर्वदा करुणा और समवेदना का विषय हुआ करता है। इस दृष्टि से नीरो, ज़ार अथवा रावण, अपनी पाशविकता की उग्र विभूतियों के रहते हुए भी, गुमराह होने के नाते, हमारी अनुकम्पा के पात्र हैं, न कि भर्त्सना के।

---

१ अनघ पृ० ५८।

मघ कहता है—

किन्तु विरोधी पर भी अपने
करुणा करो, न क्रोध करो।
विष भी रस बन जाय अन्त में
उसमें इतना रस घोलो—
अरे, बद्ध हो क्यों अपने में
द्वार दया कर के खोलो[1] !

कारुण्य की मार्मिक उद्भावना की दृष्टि से 'मधुवन' शीर्षक दृश्य में रानी की उक्तियाँ सविशेष उल्लेख्य हैं। वह राजा से वाद-प्रतिवाद करती है और उसे मानवता की आर्द्र सीढ़ियों से हो कर गुजारना चाहती है। उसे वसन्त का सुहावना समय पातकी और पाषण्डी के रूप में नजर आता है। यदि प्रजा दुख-दैन्य से पीड़ित है, तो वसन्त को खिलखिलाने का क्या अधिकार ? चमन में बैठकर कोयल को गाने का क्या अधिकार ? अतः वह उत्प्रेक्षा करती है—

यह हरा भरा मधुवन विशाल
मानों लाखों का रक्त लाल
पीकर भी भीतर शुष्क भूप
है खड़ा झाड़-झंखाड़ रूप !

---

1 अनघ पृ० ६०।

सुन सुन कर यहां पतंग-गान
होता है मुझको आप मान
यह कोकिल-कुल की कलित कूक
पीड़ित हृदयों की हो न हूक[1]!

'दग्ध गृह' शीर्षक दृश्य में भी हम मघ की माँ और सुरभि को दयनीय परिस्थितियों में पड़ी पाते हैं। घर जला दिया गया है, गाएँ छीन ली गई हैं, जीवन-धन मघ बेड़ियों में जकड़ा बंदी रूप में माँ के सामने लाया जाता है। वस्तुत: बड़ी विषम परि-स्थिति है। मुखिया मघ की माँ से कहता है—

पर मैं मघ को यहाँ, जिस तरह बन पड़ा,
लाया, मिल लो और करो अब जी कड़ा[2]!

बुढ़िया के लिये मुश्किल और परीक्षा का समय था। क्या वह धाड़ मारकर रोने लगी और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी? नहीं, वह मघ की माँ थी—योग्य पुत्र की योग्य माँ! वह साहस कर बोल उठती है—

जाओ बेटा, दण्ड मिले सो तुम सहो
अपने व्रत पर अटल अचल यों ही रहो[3]!

....

१ अनघ पृ० ७१।
२ " " १११।
३ " " १११।

मुझको तो है गर्व तुम्हारे कर्म पर
मेरा सुत वलिदान हुआ है धर्म पर[१]!

जिस प्रकार माँ अपने चरित्र की महानता को कायम रखती है, उसी प्रकार सुरभि भी। वह अपने प्रणयी के पथ की पंथिनी बनना ही अपने जीवन का चरमोद्देश्य समझती है। हृदय में विकलता होने पर भी वह उस पर विजय प्राप्त करती है। मानव दुर्बलता और मानव प्रबलता दोनों की संधिस्थली हो रही है तरुणी सुरभि। रोते रोते वह तो गा पड़ेगी :—

विश्ववेदना विकल करे मुझको सदा
रक्खे सजग सजीव आर्ति या आपदा!
मेरा रोदन एक गूँजता गीत हो
जीवन ज्वलित कृशानु-समान पुनीत हो[२]!

मघ की माँ और सुरभि—दोनों उन नारी पात्रियों में से हैं जिनको गुप्तजी की लेखनी ने गौरवान्वित आसन दिया है; वे एक वाञ्छनीय आदर्श के प्रतीक हैं।

---

१ अनघ पृ० ११२।
२ „ „ ११४।

(ई)

'अनघ' नवयुग के समाज-सुधारकों एव कार्यकर्त्ताओं के प्रति एक उदाहरण पेश करता है। सच्चे समाज-सेवी को बाधाएँ तो सहनी ही पड़ेंगी। किन्तु यदि वह अपनी धुन में लगा रहा, मुसीबतों को झेलता रहा, तो एक न एक दिन सफलता मिलेगी ही।

धर्मो रक्षति धार्मिकम्।

२७

'चन्द्रहास' एक पौराणिक रूपक है। इसकी कथावस्तु संक्षेप में यों है:—कुन्तलपुर की गलियों में घूमते हुए एक अनाथ बालक चन्द्रहास को लेकर राजपुरोहित गालव राजमंत्री धृष्ट-बुद्धि के यहाँ आते हैं और यह भविष्यवाणी कहते हैं कि—

क्या ठीक है जो यह मार्गचारी
बने तुम्हारा विषयाधिकारी[1]!

किन्तु धृष्टबुद्धि को यह बात धक-सी लगती है, क्योंकि उसके पुत्र मदन के रहते चन्द्रहास के राज्याधिकारी होने की कल्पना कैसी!

धृष्टबुद्धि की आज्ञा होती है कि चन्द्रहास को गहन वन में

---

1 चन्द्रहास पृ० ११।

ले जाकर मार डाला जाय। इसी प्रसंग में नियति[1] (Destiny) अलक्ष्य रूप से प्रवेश करती है—उस बालक के सहायक के रूप

---

१ नियति का रंगमंच पर सदा अलक्ष्य रूप से विराजित होना और घटनाचक्र को मोड़ते चलना कला की दृष्टि से कहाँ तक न्याय्य है—यह विचारणीय है। नियति तो संसार के सभी जीवन-नाटकों पर प्रभाव डालती ही है; और यही अतर्कित एवं अलक्षित प्रभाव अपनी अद्भुतता के कारण उन नाटकों का सारतत्व समझा जा सकता है; किन्तु कलाकार की कलात्मकता इसी में है कि नियति की इस गतिविधि को व्यञ्जना के रूप में चित्रित किया जाय न कि अभिधा के रूप में। जीवन की टेढ़ीमेढ़ी अननुमेय चाल ही जीवन को असलियत की रूपरेखा देती है, वर्ना जीवन एक मशीन हो जाय जिसके कलकाँटे हम लोग पहले ही से जानते हों, और अच्छी तरह। जिस प्रकार 'मुद्राराक्षस' में राक्षस की सभी नीतियाँ विफल होती हैं और चाणक्य की सभी नीतियाँ सफल होती हैं, उसी प्रकार प्रस्तुत नाटक में भी धृष्टबुद्धि के सभी षड्यंत्र प्रत्यावर्त्ती अस्त्र (boomerang) के समान घूम फिर कर उसी के सिर पर चक्कर काटने लगते हैं। गाह बगाह नियति टपक पड़ती है और चन्द्रहास की रक्षा करती है। प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य (पृ० १६) में ही वह पर्दे पर आती है (नाटकों के पात्रों के लिये तो अदृश्य रूप से परन्तु दर्शकों के लिये दृश्य रूप से) और घोषित करती है कि—'रे धृष्टबुद्धि! बल है सब व्यर्थ तेरा, श्री चन्द्रहास पर है अब हाथ मेरा'। यह घोषणा एकबारगी चन्द्रहास के भावी जीवन की गतिविधि पर मानों मुहर लगा देती है, और दर्शकों के हृदय की बहुत सी उत्सुकता जाती रहती है।

में। फलतः कातिलों के दिल में भी उसके प्रति दया आती है और उसकी जान बच जाती है। वे यह सोच कर उसे जंगल में छोड़ कर चल देते हैं कि वहाँ वह हिंस्र जन्तुओं का आहार हो ही जायगा।

उधर चन्दनावती का राजा कुलिन्दक आखेट के सिलसिले में जंगल में जाता है और चन्द्रहास को पा कर उसे पोष्यपुत्र बना लेता है। 'अपुत्रस्य गृहं शून्यं' वाले कुलिंदक का घर भर जाता है और भर जाती है गोद राजरानी की।

× × × ×

धृष्टबुद्धि की पुत्री विषया युवती हो चुकी है और विवाह-योग्य। खबर मिलती है कि चन्दनावती का राजकुमार चन्द्रहास सर्वतोरूपेण विषया के योग्य है। धृष्टबुद्धि 'चन्द्रहास' नाम पर चौंक पड़ता है क्योंकि उसकी समझ में वह तो कब का मर चुका है।

धृष्टबुद्धि राजकाज के बहाने से चन्दनावती जाता है और चन्द्रहास को देखकर उसकी प्रतिहिंसा पुनः प्रबुद्ध हो उठती है। फलतः वह एक जाल रचता है जिसके द्वारा चन्द्रहास स्वयं एक गुप्त पत्र लेकर कुन्तलपुर भेजा जाता है। उस पत्र द्वारा मदन को यह निदेश दिया जाता है कि 'तुम अविलम्ब इसे विषया कनी दे देना'।

चन्द्रहास उपर्युक्त पत्र को लेकर आता है और मदन से मिलने के पहले एक आराम में आराम करता है और उसे नींद आ जाती है। इसी बीच सखियों सहित विषया प्रवेश करती है

और तलवार की मूँठ पर खुदे हुए अक्षरों से जान लेती है कि यही उसका प्रणय-पात्र है। वह अकस्मात उस पत्र को भी देखती है और अपनी आँख के काजल से कनी शब्द को मिटा देती है।

मदन को जब यह पत्र मिलता है तो वह कोई प्रयोजन-विशेष समझ कर अविलम्ब चन्द्रहास के साथ विषया के विवाह का आयोजन करता है। वे दोनों परिणय-पाश में बँध जाते हैं। जब धृष्टबुद्धि लौटता है तो उसे काठ मार जाता है; लेकिन करे तो क्या? फिर भी चन्द्रहास को मरवाने की इच्छा से उसे वन में विजनेश्वरी देवी की पूजा करने जाने के लिये आदेश देता है; किन्तु मदन उसे रोक देता है और स्वयं पूजा करने चला जाता है। घातकों को गुप्त आज्ञा थी कि पूजा करनेवाले युवक की बलि दे दी जाय। किन्तु नियति सर्वत्र रक्षा के लिये तैयार थी।

इधर कुन्तलपुर के राजा कौन्तलप चन्द्रहास को राज्यभार देकर स्वयं संन्यास लेता है। उसे यह जानकर और भी प्रसन्नता होती है कि चन्द्रहास अनाथ बालक नहीं है। वह तो तत्त्वतः केरल देश के स्वर्गीय राजा सुधार्मिक का पुत्र है।

विजनेश्वरी देवी का मन्दिर! मदन और धृष्टबुद्धि दोनों घायल पड़े हैं। अपने निश्चय में कठोर होते हुए भी धृष्टबुद्धि विषया के वैधव्य की चिन्ता से पागल सा हो गया है और अंत में दौड़ कर हत्या को रोकने की चेष्टा में मंदिर में जाता है और घायल होता है।

पीछे कौन्तलप, गालव, मदन-आदि भी वहाँ आते हैं।

धृष्टबुद्धि का कलुष अनुताप के हुताशन में जल कर नष्ट हो चुका है। वह चन्द्रहास के प्रति आत्मसमर्पण करता है,—और जब कौन्तलप भगवती के सामने उसे राजदंड सौंपता है तो धृष्टबुद्धि की भी शुभकामनाएँ उसके साथ थीं।

प्रस्तुत निबंध के आलोच्य विषय की दृष्टि से कथानक का अंतिम भाग—नाटक का पंचमांक—विशेष महत्त्वपूर्ण है। धृष्टबुद्धि के चरित्र के चरम विकास में हम दानवी और दैवी मनोवृत्तियों के बीच एक अंतर्द्वन्द्व का नजारा देखते हैं। धृष्टबुद्धि रंगमंच पर क्रूरता की प्रतिमूर्ति बनकर अवतीर्ण होता नजर आता है। वह चन्द्रहास को मरवा डालने का आयोजन करता है और उसे विश्वास हो जाता है कि उसका आयोजन सफल हो चुका है। पीछे चलकर जब चन्द्रहास नाम के एक युवक का पता लगता है तो, यह समझते हुए भी कि असली चन्द्रहास मारा जा चुका है, वह बोल उठता है—"चन्द्रहास नाम से मुझे घृणा है, मैं इसे मिटा कर ही रहूँगा! अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिये मैं क्या नहीं कर सकता[1]?" फलतः वह उस युवक को विष दिलाने की गुप्त अभिसंधि रचता है। किन्तु दैवयोग से मिलने को विष तो मिलती है *विषया*,—धृष्टबुद्धि की निजी आँखों की पुतली, उसकी अपनी पुत्री! उसकी प्रतिहिंसा और भी जागरूक हो उठती है और वह फिर भी छल से चन्द्रहास को मरवा डालने

---

1 चन्द्रहास पृ० ५६।

का विधान करता है। परन्तु उसका यह निर्दयतापूर्ण निर्णय उसके मानस-तन्तुओं पर जबर्दस्त आघात पहुँचाता है, क्योंकि इस बार चन्द्रहास की हत्या के दामन के साथ उसकी प्यारी बेटी का वैधव्य भी बँधा हुआ है। वह पागल हो जाता है, और उसी जंगल की ओर चल पड़ता है जिसमें उसके 'दामाद' की बलि होने वाली थी। उसके हृदय में विप्लव मचा हुआ है—एक ओर पिता की ममतामयी वत्सलता, दूसरी ओर वर्षों की पालित प्रतिहिंसा! तलवार की दो धारों के बीच खड़ा है वह! वह अब से भी शोणितकांड को रोकना चाहता है; किन्तु फिर वैरी चन्द्रहास का ख्याल आते ही कलेजा दृढ़ कर लेता है। निम्न-लिखित पंक्तियाँ उसकी मानसिक उलझन का सच्चा प्रतिनिधित्व करती हैं।

"तो अब क्या होगा? विषया ही विधवा होगी! घातक अभी दूर नहीं गए होंगे। मैं दौड़ कर अभी उन्हें रोक सकता हूँ। फिर चन्द्रहास! मेरा वैरी चन्द्रहास! वह बच जायगा और मैं उसे देखकर मन ही मन जला करूँगा। यह नहीं हो सकता। मेरी हृदयाग्नि उसके मरने से ही शांत हो सकती है। परन्तु फिर विषया का विलाप बाण बन कर मेरे हृदय को विद्ध करेगा! हाय! विषया का विचार मुझे कायर बना देता है। दूर हो कायरता! मैं अब दृढ़ हूँ-वज्र का हूँ। विषया के विलाप की कल्पना मुझे विचलित न कर सकेगी। मैं अपने निश्चय पर निश्चल रहा, यह विचार उसके चीत्कारों से मेरे चित्त को चंचल

न होने देगा। यदि विषया उसके वियोग में बिना पानी की मछली की तरह तड़प तड़प कर मर गई तो ?......इन हाथों से दो दो हत्याएँ! हा! मर्मवेदना! हा! यमयातना! रहो कल्पने! मैं अभी यह सब रोक सकता हूँ।"[1]

छिछली आलोचना की दृष्टि में धृष्टबुद्धि केवल घृणा का पात्र बना रहेगा; मानों उसके हृदय में दैवी भावनाएँ हैं ही नहीं। किन्तु उपर्युद्धृत पंक्तियों की विचारधारा का मनोवैज्ञानिक अध्ययन यह सिद्ध कर देता है कि उसके हृदय की तंत्री के तार से भी दिव्य संगीत की धारा प्रवाहित हो सकती थी। यदि धृष्टबुद्धि के चरित्र का समवेदनात्मक अध्ययन इष्ट हो, तो जिसे हमने प्रतिहिंसा का नाम दिया है उसे मनस्विता की भी संज्ञा दी जा सकती है। संभवतः कालक्रम से उस के हृदय की हिंस्र मनोवृत्ति सुप्त भी हो चुकी थी, और रह गई थी केवल टेक! किन्तु परिस्थितियों ने कुछ ऐसी राह ली कि उसकी टेक नहीं निभ सकी, तथा उसका कुचला हुआ आत्मसम्मान मर्माहत सर्प के समान बौखला गया! उसकी मनस्विता चोट खाकर चीत्कार कर उठी। उसका पागलपन इसी चीत्कार का परिणाम था।

यदि धृष्टबुद्धि निसर्गतः दानव रहता तो वह अपनी क्रूरता की गठरी मजे में सम्हाल लेता; उसके मस्तिष्क के स्नायु ढीले न पड़ते-वह उद्भ्रान्त न होता और न वह अनुताप की भट्ठी में

---

१ चन्द्रहास पृ० १४८-४९।

जलता ही। किन्तु जब अनुताप की आँच ने उस की मनस्विता के कांचन पर पड़ी हुई मैल की पर्त जला कर उसे भास्वर बना दिया, तो असली धृष्टबुद्धि प्रगट हो गया—स्वार्थत्याग की भावना से परिपूर्ण एवं चन्द्रहास के लिये सुनहले वैभव का छलकता हुआ प्याला हाथ में लिये! धृष्टबुद्धि की तुलना 'प्रसाद' के 'विशाख' के नरदेव से की जा सकती है। वह भी पीछे चलकर उसी लता को करुणा के मकरंदबिन्दुओं से सींचने लगा जिसे उसने आमूल छिन्न करने की ठानी थी। विशाख के प्रति जो उस की प्रतिहिंसाभावना थी वह अंत में शुभकामना में परिणत हो गई।

गुप्तजी ने जिस रूप में धृष्टबुद्धि को हमारे सामने प्रस्तुत किया है वह हमारी अनुकम्पा और समवेदना का अधिकारी है न कि तिरस्कार और भर्त्सना का। वह हमारे लिये दानवता पर मानवता की विजय की अमर कहानी लेकर अवतीर्ण हुआ है; अवतीर्ण हुआ है लेकर भौतिकता के पतन में आध्यात्मिकता के अभ्युत्थान का सुन्दर संगीत।

कारुण्यजनक प्रसंग का दूसरा उदाहरण है वह स्थल जहाँ धृष्टबुद्धि के सेवक अबोध बालक चन्द्रहास को मारने के उद्देश्य से जंगल में ले जा रहे हैं। उनके मुख से मारने की बात सुनकर जब चन्द्रहास अपनी तोतली बोली में यह कहता है कि "तुम मुझे मालने को लाये हो? अब हलिमंदिल कितनी दूल है?"—उस समय एक ओर उस निर्दोष शिशु का भोलापन,

और दूसरी ओर उस किये जाने वाले प्रचण्ड प्रहार की दारुणता—दोनों की तुलना करके रोंगटे सिहर उठते हैं। चाहे निर्बल पर भी प्रहार क्यों न किया जाय; किन्तु यदि प्रहार की घड़ी उस निर्बल व्यक्ति को पहले से विदित हो, तो उसकी परिस्थिति उतनी दर्दनाक न होगी, जितनी उस व्यक्ति की, जिस पर आपाततः प्रहार किया जाता हो, चाहे प्रहार्य व्यक्ति सबल ही क्यों न हो। जिस समय चन्द्रहास विनाश के गहरे गर्त के किनारे चल रहा था उस समय भी मानों उसे स्वर्ग की अमराइयाँ दीखती थीं। कल्पना एवं तथ्यता के बीच का यह विकट वैषम्य—जिसका ज्ञान चन्द्रहास को न था, परन्तु उसके भावी कातिलों को था—नाटक के इस प्रसंग को अत्यन्त ही मार्मिक बना देता है। अतः जब हम आगे चल कर यह जानते हैं कि उन कातिलों का भी हृदय यह सोच कर पिघल उठता है कि—

यह सुकंठ अभी कट जायगा
मधुर हास्य सभी हट जायगा
सरल भाव कहीं वह जायँगे
रुधिर मांस पड़े रह जायँगे[1]।—

तो हमारे हृदय में संतोष की मृदुल तरंगें छलक पड़ती हैं कि न्याय का गला रुँधने नहीं पाया। कातिलों के सामने भी

---

1 चन्द्रहास पृ० २६।

बहुत बड़ी उलझन थी। एक ओर तो सेवावृत्ति के नाते कर्त्तव्य-भावना, दूसरी ओर मानवता के नाते शिशुत्व पर दया।

इधर तो करुणा पकड़े खड़ी
उधर धार्मिकता जकड़े खड़ी
यह प्रसंग पड़ा अति घोर है
कठिनता समझो सब ओर है[1]।

गुप्तजी ने इस 'घोर' प्रसंग में धार्मिकता के ऊपर करुणा का प्राधान्य स्थापित करके न केवल अपनी प्रतिभा की नैसर्गिक वृत्ति के प्रति न्याय ही किया है, अपितु पाश्चात्य कवि को उन अमर पंक्तियों की ताईद भी की है, जिनमें वह गाता है—

नहीं है करुणा की विभूति श्रमजन्य;
बरसती, ज्यों रिमझिम बूंदें पर्जन्य।
बनी है मंगलमय यह उभय प्रकार
पात्र, दानी,—दोनों के उर का हार[2]!

---

१ चन्द्रहास पृ० २४।

२ Shakespeare : Merchant of Venice.

The quality of mercy is not strain'd.
It droppeth as the gentle rain from heaven
Upon the place beneath: it is twice blest,—
It blesseth him that gives and him that takes.

* छायानुवाद लेखक द्वारा।

चन्द्रहास पर करुणा की अमृत-बूंदें बरसा कर धृष्टबुद्धि के दूतों ने न केवल चन्द्रहास को जीवनदान दिया, अपितु स्वयं भी एक ऐसे पुण्य के भागी हुए जो दुर्गम मार्ग से चलती हुई मानवता को युगों तक दीपक दिखायगा।

अनुवाद-ग्रन्थ

२८

यद्यपि प्रस्तुत निबन्ध का गुप्तजी के अनुवाद-ग्रन्थों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है तथापि उनके संक्षेप उल्लेख इस कारण अपेक्षित हैं कि, यदि यह मान भी लिया जाय कि दूसरे कवियों अथवा लेखकों की रचनाओं में हम अनुवादक की मौलिक भावनाएँ प्रतिफलित नहीं पाते, वे तो ग्रामोफोन के भाषान्तरित रेकर्ड के समान अथवा दुभाषिये के वक्तव्य के समान 'ज्यों की त्यों धरदीनी चदरिया' हैं; तथापि एक विशिष्ट विचार-बिन्दु से उन में भी हम लेखक की आत्मा को टटोल सकते हैं—उस की मनोभावना को प्रतिबिम्बित पा सकते हैं। वह विचार-बिन्दु है—लेखक की रुचिविशेष, जिससे प्रेरित होकर वह अनुवाद के लिये मूलग्रन्थों को चुनता है। जब हजारों हजार पुस्तकें उस के सामने पड़ी हों, और उन में से केवल दो-चार को वह छाँट निकाले, तो इस संचयन के पीछे उस के मानस-मधुप की विशिष्ट

मनोवृत्ति अवश्य काम करती होगी। इसी दृष्टि से हमें यह विचार करना है कि मैथिलीशरण गुप्त 'मधुप'[1] द्वारा किये गए मूल पुस्तकों के संचयन में भी कौन-सी आधारभूत सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

जिन मूल-पुस्तकों को 'मधुप' ने अनुवाद के लिये चुना, वे मुख्यतः ये हैं—

ग्रन्थ	मूल लेखक	मूल भाषा
पलासी का युद्ध,	नवीन चंद्र सेन	बंगला
विरहिणी व्रजांगना,	मधुसूदन दत्त	,,
मेघनाद वध,	,,	,,
रुबाइयात उमर खय्याम,	फिट्ज़ेराल्ड	अंगरेजी (मूल फारसी से रूपान्तर)
स्वप्न-वासवदत्ता,	भास	संस्कृत।

यदि इन अनुवाद्य ग्रन्थों की कथावस्तु का अनुशीलन किया जाय तो मालूम होगा कि सबों में कारुण्य की धारा ही प्रधान रूप से प्रवाहित हो रही है।

उदाहरणतः 'विरहिणी व्रजांगना' और 'मेघनाद-वध' ये संज्ञाएँ ही इन पुस्तकों के घनीभूत कारुण्य की परिचायक हैं। 'पलासी का युद्ध' में भी करुण रस ही प्रधान है, न कि वीर रस,

---

१ मैथिलीशरण गुप्त ने अनुवादों में अपना नामान्तर 'मधुप' ही रक्खा है। कहीं कहीं पूरा नाम भी दिया गया है।

क्योंकि क्लाइव के नेतृत्व में अंगरेजों की विजय भले ही कथानक की मुख्य घटना हो, किन्तु उसका मर्मभेदी एवं चरम बिन्दु है सिराजुद्दौला का कारावास और वध। अंतिम अर्थात् पंचम सर्ग की पंक्ति पंक्ति से करुण रस प्रस्रवित हो रहा है। काव्य की अंतिम चार पंक्तियाँ इस कथन का साक्षित्व करेंगी :—

दुर्बल दीपक के प्रकाश में दमक उठी असि जब गिरी।
भू पर गिरा सिराज—शीश कट और रुधिर-धारा फिरी॥
बुझा इसी क्षण घर का दीपक जो प्रकाश था सो गया।
भारत की अंतिम आशा का अन्त अचानक हो गया![1]

'रुबाइयात उमर खय्याम' के मणि-मंडित मधुपात्रों और नयन-नर्त्तिनी नर्त्तकियों के इन्द्रधनुषी चित्रण भी निराशावाद के काले अभ्रपट के ही आधार पर निखरे हैं। उमर निराशावादी था, उस के लिये संसार मिथ्या था।—

सांसारिक लिप्साएँ जिन पर आशा करते है हम लोग।
मिट्टी में सब मिल जाती है पाकर सौ विघ्नों के रोग॥
कहीं फूलती फलती भी है तो बस घड़ी दो घड़ी ही।
ज्यों मरु के धूसर मुख पर हो हिमकण की आभा का योग॥[2]

---

१ पलासी का युद्ध पृ० १३० (प्रथम संस्करण)।

२ रुबाई संख्या १४।

अथवा

अरे, चले आओ, विज्ञों को करने दो बकवाद फिजूल।
एक बात निश्चित है, क्षण क्षण उड़ती है जीवन की धूल॥
केवल एक बात निश्चित है शेष और सब मिथ्या है—
मुरझा जाता है सदैव को, एक बार खिलता जो फूल॥

ऐसे पद्य उमर की नैराश्यमयी मनोभावना के प्रतीक हैं और अनायास ही हमारी जीवन-बीन के करुण और कोमल तारों को छूकर उन्हें सजग कर देते हैं।

'स्वप्नवासवदत्ता' भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' नामक संस्कृत नाटक का अनुवाद है। इसका नायक उदयन है और प्रधान नायिका वासवदत्ता। उदयन वासवदत्ता से प्रेम करता था, किन्तु उस के राज्य की रक्षा के लिये आवश्यक था कि उसका विवाह मगधराज दर्शक की बहन पद्मावती से हो। अतः मंत्रियों ने षड्यन्त्र द्वारा वासवदत्ता को लुप्त कर दिया और उदयन को विश्वास दिलाया कि उसकी प्रेयसी जल कर मर गई। किन्तु मंत्रियों ने वासवदत्ता को पद्मावती के यहां धरोहर के रूप में रख छोड़ा था। अपने पति की शुभकामना को ध्यान में रखते हुए वासवदत्ता अज्ञात रूप से रहने लगी और अपनी आँखों पद्मावती के साथ उसका विवाह होते देखा, और देखा दोनों को परस्पर प्रेम का आदानप्रतिदान करते भी; किन्तु अपने दृढ़ निश्चय से इञ्च भर भी विचलित न हुई। कालक्रम से परिस्थितियों की

कुछ ऐसी आकस्मिक जुटान हुई जिससे उदयन को वासवदत्ता की वस्तुस्थिति का पता लगा, और फिर दो बिछुड़े प्रेमी एकत्र हुए। वासवदत्ता ने जिस कठोर असिधार-व्रत का पालन किया, जिस चरम आत्मत्याग का परिचय दिया, जिस स्वर्गिक स्त्री-सुलभ सौजन्य का उद्भावन किया, उसने उसे भारतीय नारीत्व के इतिहास में अमर कर दिया है।

× × × ×

सारांश यह है कि अनुवाद के लिये भी 'मधुप' ने साहित्य-सुमन-स्थली से ऐसे ही सुमन चुने हैं जिन से कारुण्य के मक-रन्द-बिन्दुओं का आस्वादन सुलभ हो।

गुप्तीय भाव-चित्रावली

भावकार—धर्मेन्द्र

चित्रकार—हादी और इस्माइल

कन्या के वैवाहिक जीवन का सूर्य उदय भी न होने पाया था कि अस्त हो चला।

जानता था भंग होना कौन यों रस रंग का ?
ध्यान था किसको अहो ! इस शोचनीय प्रसंग का ?

विधवा वधू ने अपने पति के शव के साथ अपने प्राणों की आहुति दे दी।

मिल गई चन्दन-चिता के ज्वाल-ज्वालामोद में।

—पृ० ५।

विशेषतः उत्तरा का विलाप बड़ा ही मर्मभेदी है। अतीत सुखद स्मृतियों की कसक उसे और भी तीव्रतर बना देती है।

मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रंथि-बंधन साथ में
मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में।
मैं हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी
भूलो न मुझको नाथ, हूँ मैं अनुचरी चिरसंगिनी।

निर्जीव पति के प्रति ये "मैं हूँ वही" की विधुर स्मृतियों से पूर्ण उक्तियाँ कितनी कारुणिक हैं!

—पृ० ९।

वह उस अपमानिता पत्नी से पैरों पर पड़ कर क्षमा मांगता है किन्तु शकुन्तला यह कह कर राजा की आत्म-ग्लानि का परिहार करती है कि—

'उठो नाथ ! वह कुछ न तुम्हारा दोष था
मुझ पर ही अज्ञात दैव का रोष था।

—पृ० १२।

अतः जब कीचक ने उसका हाथ पकड़ ही लिया तो उसका मर्दित आत्मसम्मान ज्वालामुखी के समान जाग पड़ा और—

आहा ! अब हो उठी अचानक वह हुंकारित
ताव-पेंच खा बनी कालफणिनी फुंकारित ।

—पृ० २५।

साह, महाजन, जमीन्दार—तीनों ठने
वात, पित्त, कफ सन्निपात जैसे बने ।

—पृ० ३१

मेरे शर से मरते मरते
डाली उसने मुझ पर दृष्टि
साली मेरे रोम - रोम में
नीरव विष-विषाद की वृष्टि।

—पृ० ३७।

राहुल कहता है—

गाती है मेरे लिये, रोती उनके अर्थ
हम दोनों के बीच तू पागल-सी असमर्थ
रोना गाना बस यही जीवन के दो अंग
एक संग में ले रही दोनों का रसरंग।

माँ भी स्वर में स्वर मिला कर बोलती है—

रुदन का हँसना ही तो गान
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।

—पृ० ५५।

गुप्तजी की प्राथमिक रचनाओं में 'भारतभारती' ने जितनी ख्याति लाभ की, उतनी और किसी ने नहीं। कवि की 'भारत-भारती' को भारत ने अपनी भारती समझ कर अपनाया। भारत के कोने-कोने से आवाज आने लगी—
हम कौन थे, क्या हो गए है, और क्या होंगे अभी।
आओ, विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी॥
—पृ० १०७।

पुण्य-स्मृति में

पुण्य-स्मृति में—

उस पावन आत्मा की—
जो झाँक रही है अभी तलक
बैठी उर की झुरमुट में
शाश्वत विकसित नयनों से !

जिसकी चितवन की सिहरन
से सिहरा नभ का तारा ;
छलकी जिसकी आँखों में
छल-छल करुणा की धारा !

प्रो० धर्मेन्द्रब्रह्मचारी शास्त्री, एम० ए०

पटना-कालेज

प्रो० धर्मेन्द्र की अन्य आलोचनात्मक रचना

महाकवि 'हरिऔध' का 'प्रिय प्रवास'

पर

कुछ सम्मतियाँ

—:o:—

शान्तिप्रिय द्विवेदी—यह पुस्तक काव्यालोचन की शास्त्रीय पद्धति पर लिखी गयी है। इस पद्धति का अप-टू-डेट रूप हमारे साहित्य में आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल उपस्थित कर गये हैं। शुक्लजी के आलोचनासाहित्य से प्रेरित हो कर हिन्दी में जो युवक साहित्य-समीक्षक आये है उन्हीं के अन्तर्गत हम इस पुस्तक के लेखक को भी ले सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में 'प्रियप्रवास' की अच्छी काव्य-परख की गयी है। उसके भावों और अभावों की ओर रसात्मक हृदय से

दृष्टिपात किया गया है। लेखक का दृष्टिकोण संकुचित नहीं है; किसी काल-विशेष के काव्य में केन्द्रित न हो कर विस्तृत है।... 'हरिऔध'-साहित्य के पाठकों के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

सद्गुरुशरण अवस्थी:—'प्रियप्रवास' की समीक्षा प्रस्तुत पुस्तक में की गयी है। यह बड़े हर्ष का विषय है कि हिन्दी में ऐसी उच्च कोटि की समीक्षाएँ निकलने लगी हैं। यह ग्रन्थ बड़े ही विवेक-पूर्ण ढंग से पक्षपात रहित हो कर भी श्रद्धा और सहानुभूति के साथ लिखा गया है। किसी कृतिको कितने पहलुओं में देखना चाहिए इसका ज्ञान शास्त्रीजी को है। वे देखना और दिखाना दोनों जानते हैं। बीच बीच में समीक्षा तत्त्वों की भी व्याख्या की गयी है।

गोपाल व्यास, एम. ए., साहित्यरत्न:—महाकवि 'हरिऔध' उन गिने-चुने महारथियों में से हैं जिन्होंने अपनी उत्कृष्ट काव्यकृतियों से आधुनिक हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि में योग दिया है। उन्होंने 'प्रियप्रवास' के रूप में हिन्दी के खड़ीबोली-काव्य को वह अमूल्य उपहार दिया है, जिसका महत्त्व सदा अक्षुण्ण रहेगा। .... ऐसी उत्कृष्ट रचना के संवन्ध में वैसी ही उत्कृष्ट आलोचनात्मक पुस्तक का अभाव हमारे समीक्षा-साहित्य की दरिद्रता का परिचायक था। ...... हर्ष का विषय है, पटना कालेज के हिन्दी-अध्यापक श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम. ए. (त्रितय) ने 'महाकवि हरिऔध का प्रिय-प्रवास' लिख कर

'प्रिय-प्रवास'-विषयक सुंदर आलोचना प्रस्तुत की है। ...... विद्वान् लेखक ने काव्य की अन्तरंग और बहिरंग विशेषताओं का अच्छा उद्घाटन किया है। ...... कवि के प्रति सर्वत्र श्रद्धा रखते हुए भी निष्पक्षरूप से आपने 'प्रिय-प्रवास' की विशेषताओं का मार्मिक उद्घाटन किया है। आपकी भाषा-शैली पुष्ट, अलंकृत और विवेचन के सर्वथा उपयुक्त है। ...... वास्तव में, प्रिय-प्रवास'-जैसे ग्रंथ पर निष्पक्ष और विद्वत्तापूर्ण आलोचना लिखकर आपने हिन्दी के समीक्षा-साहित्य को एक उत्कृष्ट भेंट दी है।

प्रो० धर्मेन्द्र की प्रमुख रचनाएँ:—

१. महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास—प्रकाशक-रामनारायण लाल, एलाहाबाद, मूल्य १)

२. गुप्तजी के काव्य की कारुण्यधारा— „ पुस्तक भंडार, लहेरिया-सराय (बिहार), मू. २॥)

३. रमणी-निर्माण (काव्य)— „ पुस्तक भंडार, लहेरिया-सराय, मूल्य ॥)

४. सूर-समालोचना—मिलने का पता—मोतीलाल बनारसी दास, पटना। मूल्य ।)।

—*—

12